महाकाव्य

मूल्य	रु० १०.००
प्रकाशक	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६
मुद्रक	नवीन प्रेस, दिल्ली-६
सज्जा	श्री सुखदेव दुग्गल

महाकाव्य

कैकेयी

चाँदमल अग्रवाल 'चन्द्र'

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ : पटना-६

जग ने जिसका नित विषमय ही,-पाषाणी-रूप निहारा।
बहती उस पत्थर के नीचे, पर विमल सुधा की धारा॥

पार्श्वभूमि

'नारी' के प्रति पहले से ही एक विशेष उच्च भावना मेरी रही है। प्रबन्ध-काव्य के रूप में 'चित्राङ्गदा' और 'पद्मिनी' के प्रणयन के बाद, रामायण के नारी पात्रों के अध्ययन के समय 'कैकेयी' की ओर मेरा ध्यान गया। राम-वनवास की एकमात्र घटना के अतिरिक्त कैकेयी के चरित्र में कहीं कलुष नहीं दिखाई दिया। अतः उस घटना के ऐतिहासिक कारणों की खोज एवं 'नारी' के मनोविज्ञान का विश्लेषण ही प्रारम्भ में 'कैकेयी' महाकाव्य की रचना के लिए प्रेरणा बना। कालान्तर में कुछ ऐसा नारी पात्र दृष्टि में आया, जिसके कारण इस महाकाव्य के लेखन की भावना और भी दृढ होती गई।

उपर्युक्त दृष्टि से रामकथा के आदिस्रोत वाल्मीकि रामायण तथा तुलसी के रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए गहराई से विचार करने पर मेरे मानस में एक कल्पना ने जन्म लिया कि अवश्य ही दशरथ-कैकेयी-परिणय में शान्तनु-सत्यवती जैसी कोई बात होनी चाहिए; और इसकी खोज में मै जुट गया। कई रामायणों का व तत्सम्बन्धी साहित्य का मैंने अध्ययन किया, कई वाचनालय-पुस्तकालय छान डाले, कई प्रकाशकों के द्वार खटखटाये, कई रामायण-प्रेमी मित्रों के संग्रहों को उलट डाला, परन्तु कैकेयी के प्रारम्भिक जीवन के सूत्र कहीं हाथ नहीं आये। तथापि मेरे मन की हठी भावना ने टस-से-मस नहीं होना चाहा। संयोग से एक बार एक बालस्वामीजी काशी से पैदल यात्रा करते हुए इस नगर में आये। मेरी अनुपस्थिति में ही मेरे एक मित्र ने उनसे जब इस विषय की चर्चा की तो सौभाग्य से उन्होंने 'सत्योपाख्यान' के कुछ श्लोक सुना दिए (अ० ८, सं० १३, १४, १६, २०), जिसके अनुसार मेरी धारणा सत्य निकली कि कैकेयी के पुत्र को राज्याधिकार देने की शर्त पर ही कैकेयी का दशरथ के साथ विवाह हुआ

था। 'कैकेयी' (महाकाव्य) के अष्टम् सर्ग में इसका उद्घाटन किया गया है। इस आधार को दृढ़ बनाने में वाल्मीकि के राम का चित्रकूट में भरत से यह कहना पर्याप्त है कि—

पुराभ्रातः पित नः स मातरं ते समुद्वहन्।
मातामहे समाश्रौषीव् राज्य शुल्कमनुत्तमम्॥
(वा० रा०, अयोध्याकाण्ड, सर्ग १०७, छन्द ३)

(भैया)! आज से बहुत पहले की बात है—पिताजी का जब तुम्हारी माताजी के साथ विवाह हुआ था, तभी उन्होंने तुम्हारे नाना से तुम्हें (अर्थात् कैकेयी के पुत्र को) राज्य देने की उत्तम शर्त स्वीकार कर ली थी।

मेरे मन को लगा कि यह घटना प्रस्तुत 'काव्य' के सृजन के लिए एक अदृश्य दैवी प्रेरणा ही रही है और मैंने इसका श्रीगणेश कर ही दिया। बाल-स्वामीजी के प्रति मेरी कृतज्ञता को शब्द वहन नहीं कर पा रहे हैं।

राम-कथा के सभी पात्रों को मैंने प्रायः मानवी धरातल पर रखकर ही देखा है एवं उसकी घटनाओं पर ऐतिहासिक व राजनीतिक दृष्टि से विचार किया है। कैकेई को दोष से मुक्त करने के लिए देवताओं द्वारा सरस्वती को मंथरा की जिह्वा पर बैठाना 'टालमटोल'-सा लगता है। आज का बुद्धिवादी युवक इसको मानने के लिए तैयार नहीं है। इसलिए उस घटना पर यहाँ मनोवैज्ञानिकता से भी विचार करके, युग-युग से प्रताड़ित नारी के विषय में जन-मानस में प्रचलित धारणा के विपरीत उसके चरित्र के उज्ज्वल पक्ष को चित्रित करने का साहस किया गया है। मेरी सफलता-असफलता पाठक के मन में कैकेयी के प्रति उत्पन्न सहानुभूति की मात्रा पर निर्भर रहेगी।

'कैकेयी' काव्य २१ फरवरी, १९६७ को प्रथम १५ सर्गों में पूरा किया गया था। मई '६७ में आचार्य नन्ददुलारेजी वाजपेयी ने प्रथमावलोकन में ही उदारता से स्वयं ही इसकी भूमिका लिखना स्वीकार किया। साथ ही यह इच्छा भी व्यक्त की कि मैं इसमें राष्ट्रीय विचारों का अंश कुछ और बढ़ा दूं। उनकी प्रेरणा से कुछ ही समय में और दो सर्गों की रचना कर सम्पूर्ण पांडुलिपि उनके सम्मुख उपस्थित कर दी गई। पर दुःख है कि भूमिका को शैशवावस्था में छोड़कर आचार्यजी उसी अगस्त में स्वर्ग सिधार गये। तथापि उनकी प्रेरणा ने इसकी धारा को एक ओर मोड़ भी दिया इसमें सन्देह नहीं। स्वर्गीय आचार्य वाजपेयीजी के प्रति मेरी कृतज्ञता शब्दों के जाल में उलझी रही है।

हमारा राष्ट्र अनेक उलझनमय और विकट परिस्थितियों से गुजरता रहा है—विशेषतः स्वराज्य-प्राप्ति के बाद। पाकिस्तान और चीन से हुए हमारे

संघर्ष, हमारी नीति और उसके परिणाम, देश के प्रति आस्था रखने वाले किसी भी विचारवान व्यक्ति को गंभीरता से विचार करने के लिए बाध्य करते हैं। इस सन्दर्भ में मुझे जो कुछ कहना था मैंने यत्र-तत्र तो कहा ही है, पर विशेष रूप से पंचम् व नवम् सर्ग तथा द्वादश सर्ग के राम-लक्ष्मण-संवाद में कहा है। काव्य के कलेवर तथा नवीन छन्दों के और भिन्न-भिन्न प्रकार से तुकों के प्रयोगादि पर पाठक ही निर्णय करेंगे।

प्रस्तुत काव्य के लेखन-प्रकाशन में जिन-जिन महानुभावों ने सम्मति, परामर्श, प्रोत्साहन, सहानुभूति व मार्गदर्शन अथवा अन्य किसी भी प्रकार से सहायता की है, उन सबकी लम्बी नामावलि लेकर धन्यवाद की प्रथा का पालन करना पाठकों को उबाने वाला होगा और इतने ही से उनके प्रति मेरी कृतज्ञता की अभिव्यक्ति भी अपूर्ण ही रहेगी।

पं० बलदेवप्रसादजी मिश्र का मैं विशेष कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने इसे आद्योपान्त सुना भी और पढ़ा भी एवं तुरन्त विस्तृत भूमिका भी लिख दी। वैसे उनके स्नेह की तुलना में कृतज्ञता-ज्ञापन का मूल्य ही कितना?

इस रचना में 'कौमुदी' का भी बड़ा योग रहा है। समय-समय पर मुझे प्रेरित करते रहने के अतिरिक्त, इसकी कई-कई प्रतियाँ निकालने में भा उसने बड़ा परिश्रम किया है।

अन्त में कैकेयी के शब्दों में यही कामना करता हूँ कि—

शक्ति-साहस दो, करूँ भगवान,
स्नेह को कर्तव्य पर बलिदान।
साक्ष्य तुम हो, स्वार्थ-प्रेरित यह न अन्तर्द्वन्द्व,
विश्व-मानवता रहे निर्द्वन्द्व॥

—चाँदमल अग्रवाल 'चन्द्र'

चन्द्र-भवन, छावनी,
औरंगाबाद (महाराष्ट्र)

भूमिका

साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। साहित्यकार समाज में उत्पन्न होकर संस्कृति के रूप में समाज के जिन भावों को प्राप्त करता है, उन्हीं को अपनी प्रतिभा से वाणी प्रदान करता है। परिणामतः साहित्यकार के द्वारा प्रस्तुत चित्र समाज का प्रतिविम्ब होता है। तत्कालीन समाज की स्थायी वृत्तियाँ तो उसमें संकलित होती ही हैं, साथ ही साहित्यकार की प्रतिभा से समाज को नवीन रूप भी मिलता है। इस प्रकार समाज साहित्य को बनाता है और साहित्य समाज को।

आधुनिक युग में साहित्य के मानदण्ड भी बदल रहे हैं। महाकाव्यों की परम्परा को देखने से स्पष्ट ही प्राचीन और नवीन महाकाव्यों में अन्तर दिखाई देता है। प्राचीन महाकाव्यों में चरित्र-चित्रण को इतना महत्त्व नहीं दिया गया जितना कि दैवी गुणों से युक्त अर्थात् देवता स्वरूप नायक के आदर्श को। उनमें चरित्र की विविधता, सांसारिक समस्याओं को सुलझाने की क्षमता तथा क्रमिक मानसिक विकास और घातप्रतिघात के स्थान पर अलौकिकता तथा देवत्व ही अधिकतर दिखाई देता है। आधुनिक महाकाव्यों में नायक-नायिका 'दैवी' न रहकर 'मानवी' हो गए हैं, जिनमें गुणों और दोषों का सम्मिश्रण मिलता है। इनमें मानवीय भावनाओं का रहस्योद्घाटन तथा जीवन की विविधता को महत्त्व दिया गया है। मानव की दुर्वलताओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेपण करके चरित्र का क्रमशः विकास एवं मानव-जीवन की उलझनमयी गुत्थियों का उद्घाटन और समाधान उनका उद्देश्य है तथा मानवता के कल्याण के लिए प्रयत्न-शील नायक अथवा नायिका ही महाकाव्य के नायक-नायिका हैं।

श्री 'चन्द्र' जी का प्रस्तुत 'कैकेयी' महाकाव्य विशेषतः वाल्मीकीय रामायण के कथा भाग पर आधारित है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इस कृति में केवल गतानुगतिकता है। श्री अग्रवालजी ने पर्याप्त

मौलिक चिन्तन किया है और कैकेयी-विषयक प्रचलित धारणा को नया मोड़ दिया है।

जग ने जिसका नित विषमय ही, पाषाणी-रूप निहारा।
वहती उस पत्थर के नीचे, पर विमल सुधा की धारा।।

(परिचय)

राम-कथा में अनेक अमर पात्र हैं। उन पात्रों में कैकेयी जी अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। राम-वन-गमन ही राम के जीवन की प्रमुख घटना है और लोक दृष्टि से इस घटना की प्रमुख संचालिका रही है कैकेयी जी। उन्होंने किन परिस्थितियों से प्रेरित होकर इस घटना के सम्बन्ध का अपना ऐतिहासिक निर्णय लिया और इस निर्णय के लिए उन्हें कहाँ तक दोष दिया जा सकता है, इस प्रसंग में आदिकवि वाल्मीकि और पुराणकार व्यासदेव से लगाकर आज तक के कवियों और चिन्तकों ने विचार किया, किन्तु अभी तक विद्वानों का ऐकमत्य नहीं हो पाया है। इतिहास की यही तो विशेषता है कि घटनाओं की खूँटियाँ तो वह स्थिर रूप से गाड़ देता है, किन्तु वीच के ताने-वाने भरने का काम वह कल्पनाशील चिन्तकों पर छोड़ देता है और मजा यह है कि किसी पात्र की चारित्रिक साधुता-असाधुता के लिए हमें खूँटियों की अपेक्षा इन तानों-वानों की ओर ही अधिक ध्यान देना पड़ता है। कैकेयी ने वरदान माँगकर राम को वन भिजवाया यह तो राम-कथा की ऐतिहासिक खूँटी समझिये, परन्तु इस वरदान के पीछे उसका अभिप्राय क्या था इसी के ताने-वाने पर उसके सुव्यक्तित्व अथवा दुर्व्यक्तित्व का फैसला निर्भर करता है। कैकेयी की चरित्र-विषयक परम्परागत भावना तो यही रही कि उसने नारी-विषयक दुर्वलता ही दिखाई है—त्रियाहठ, सौतिया डाह, 'तीय-अधर-बुद्धि', निज-पर-भाव आदि। वर्तमान युग नारी के श्याम पक्ष पर नहीं, किन्तु उसके उज्ज्वल पक्ष पर अधिक ध्यान देता है। अतएव इस युग के कवियों और चिन्तकों ने कैकेयी के राम-वन-गमन विषयक कृत्य का अपनी कल्पना के नेत्रों से उज्ज्वल पक्ष—उदात्त कारण—देखने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार कैकेयी का यह वरदान माँगना उसकी कर्तव्य-परायणता का, उसकी 'शठे शाठ्यम्' वाली नीतिमत्ता का, उसकी दूरदर्शिता का और उसकी राष्ट्रहितैषिता का द्योतक है। श्री 'चन्द्र' जी की कैकेयी इन्हीं उज्ज्वल गुणों से युक्त चित्रित की गई है। राम-वन-गमन विषयक वरदान को कैकेयी के केवल क्षुद्र स्वार्थ का परिणाम न बताकर उन्होंने उसे राक्षस-वध-विषयक अथवा यों कहिये कि राष्ट्र-संरक्षण-विषयक कैकेयी की दूरदर्शिता का परिचय भी बताया है। उनका विशेष बल इस अपर पक्ष पर ही है। क्षुद्र स्वार्थ भी केवल भारत

के विषय में कर्तव्य-प्रेरित स्वार्थ है। यही इस महाकाव्य के कथानक की मौलिकता है। विशेषतः कैकेयी का यह चिन्तन कि राक्षसों के उत्पात का शमन करने के लिए राम का वन जाना आवश्यक है। इस प्रसंग में कैकेयी की स्वगत विचारधारा और उसके हृदय का विस्तृत अन्तर्द्वन्द्व सर्वथा पठनीय और मननीय है। श्री अग्रवाल जी ने कैकेयी का चरित्र बहुत ऊँचा उठाया है और उसके चित्रण में मनोवैज्ञानिकता का सफल प्रयोग किया है।

कवि की रचना में युगबोध का आ जाना स्वाभाविक होता है। इस कृति के पात्र भी मानवी धरातल के रखे गए हैं और तदनुसार कहीं-कहीं कथा में मौलिक परिवर्तन कर दिये गये हैं एवं कहीं-कहीं नई विचारधाराओं का भी समावेश कर दिया गया है, जिससे ग्रंथ की उपादेयता बढ़ गई है। प्रबन्ध-काव्य की वर्तमान विधा भी परम्परा से कुछ भिन्न हो चली है, इसका भी आभास इस रचना में मिल जाता है।

कवि 'चन्द्र' की संस्कृत-निष्ठ शब्द-माधुरी हृदयाकर्षक है और प्रासादिकता युक्त है। उनकी अभिव्यक्तियाँ कई स्थलों पर यथेष्ट मार्मिक एवं काव्य-कौशलयुक्त बन पड़ी हैं। नमूने में कुछ छन्द देते हुए इस रचना पर एक विहंगावलोकन करना अनुपयुक्त न होगा। यह काव्य-प्रबन्ध सप्तदश सर्गों में विभक्त है। प्रकृति-सौन्दर्य इसके पृष्ठ-पृष्ठ में छलका पड़ता है। वन्दना और परिचय के एक-एक छन्द के अनन्तर प्रथम सर्ग में कैकेयी के बाल्यकाल और विवाह का संक्षिप्त वर्णन है जिसका प्रारम्भ ही इस प्रकार है—

अमल क्षितिज पर प्राची दिशि के, रुचिर विमोहित-सी लाली।
खेल रही मृदु किरण सुनहली, ऊषा की भोली-भाली॥
हिमकर ने कर दिया प्रथम ही, सुधा विसिंचित नभ का पथ।
निकल पड़ा अब धीरे-धीरे, सहस किरण का ज्योतित रथ॥

(सर्ग १, छन्द १)

द्वितीय सर्ग में उनके वैवाहिक जीवन की उल्लासमय झाँकी है। इसमें नारी-तन का सौन्दर्य भी दर्शनीय है—

तीनों ही लोकों की, सुषमा को लेकर।
साना मदिरा का पुट, उसमें दे-दे कर॥

(सर्ग २, छन्द ६)

नाग-पाश-सी अलकें, खर-शर-सी आँखें।
सुधा-सनी अधरों की, अरुणिम ये पाँखें॥

उठतीं-झुकतीं पलकें, मुख पर की लाली।
सब कुछ कहती भाषा, यह मूक निराली॥
"छिप सकेगा कैसे, यह झीना-सा पट!"
कहते-कहते नृप ने, उलटाया घूंघट॥
(सर्ग २, छन्द १३।१४)

कवि ने प्रकृति और नारी का केवल कोमल सौन्दर्य ही नही देखा है, उसकी वाणी में वीर रस भी प्रवाहित हो रहा है, जिसके दर्शन हमें तृतीय, पंचम् व नवम् सर्गों में विशेष रूप से होते है। तृतीय मे देवासुर-संग्राम का वह प्रकरण है जिसमें कैकेयी ने दशरथ को अत्यधिक प्रसन्न करके उनसे दो वरदानों की धरोहर पाई थी। युद्ध के वर्णन का नमूना देखिये—

किधर से किधर शर चले, कब चले,
पता तब लगे, वक्ष में जब गड़े।
कहीं मुण्ड से मुण्ड टकरा रहे,
कहीं सिर बिना लड़ रहे धड़ अड़े॥
(सर्ग ४, छन्द २२)

पंचम् सर्ग में कैकेयी के मानस की एक झाँकी प्रस्तुत है कि क्यों न राम असुर-दमनार्थ दक्षिण की ओर भी भेजें जायें, तथा अष्टम् व नवम् सर्ग में मंथरा के संवाद से प्रभावित कैकेयी के हृदय का अन्तर्द्वन्द्व विस्तार से चित्रित है, जिसमे पंचम् सर्ग की झाँकी भी प्रकारान्तर से योग देती है। इन सर्गो मे कवि ने कैकेयी के माध्यम से देश की आन्तरिक और सीमांचलीय परिस्थितियों पर राजनीतिक दृष्टि से विस्तारपूर्वक विचार किया है जिसमे उसका चिन्तन और राष्ट्र-प्रेम झलकता है। देश की सीमा के संरक्षण में असावधानी 'चन्द्र' जी की कैकेयी को असह्य है।

बिचारी मूक सीमा की प्रजा रहती—
अधम आक्रामकों से भीत, शंकित।
कहें कैसे हमारे राज्य में बहती,
हवा सुख-शांति की निर्बाध फिर चहुँ दिशि!!
(सर्ग ५, छन्द ४५)

उसे भय है कि—

कहीं ऐसी दशा में इन उठाती सिर—
असुर साम्राज्यवादी शक्तियों से घिर,

वने न शिकार कुछ भू-भाग ही, या फिर—
समूचा देश ही न असावधानी में !!
(सर्ग ५, छन्द ३०)

वह विचलित हो उठती है कि ऐसी दशा में—

दीन मानवता कराहेगी तथा
खुल नृत्य दानवता करेगी।
शस्य-श्यामल भूमि यह
होती रहेगी रक्त-रंजित,
ध्वस्त,
लुटता शील नारी का रहेगा।
(सर्ग ६, पंक्तियां ६१।६६)

देश की रक्षा व आन्तरिक शान्ति के लिए भी वह सशक्त राष्ट्र-बल वांछित मानती है। विना शक्ति के दुष्टों को वश में नहीं किया जा सकता।

रही स्थिर शान्ति भी जग में विना बल के ?
कभी क्या शान्ति के ही गीत गाने से ?
वने कब साधु-नय से शीर्ष छल-बल के ?
निरामिष हिंस्र पशु संगीत के स्वर से ?
(सर्ग ५, छन्द ३६)

शत्रु के लिए वह 'शठे शाठ्यम्' की नीति ही अधिक समीचीन मानती है—

समय पर शोभतीं पर वृत्तियां कोमल।
खलों हित चाहिए अंगार उगले दृग ॥
(सर्ग ५, छन्द ५६)

देश पर जब विपत्ति के बादल छाये हों अथवा सीमा पर जब षड्यंत्र चल रहे हों तब वह चुप कैसे बैठ सकती है—

बैठ रहना शांत भी उपयुक्त हो सकता नहीं पर।
आत्मबल युत शक्ति से कर क्या न सकता
नर अकेला भी, करें निश्चय अगर तो ?
एक रवि ब्रह्माण्ड का सब तम मिटा देता नहीं क्या ?
(सर्ग ६, पंक्ति १२१-१२४)

सच तो यह है कि इन सर्गों का पूरा आनन्द तभी मिल सकेगा जब वे चीन और पाकिस्तान के आक्रमण का सन्दर्भ ध्यान में रखते हुए पढ़े जाएँ।

प्रस्तुत काव्य के चतुर्थ सर्ग में दशरथ तथा गुरु वशिष्ठ की

नीतियुत, पर स्वार्थ भीनी मंत्रणा

(सर्ग ४, छन्द २७)

है कि राम को शीघ्र ही यौवराज पद दे दिया जाए। षष्ठ सर्ग में कैकेयी से गुप्त रखते हुए राम के यौवराज्य-अभिषेक की तैयारियों का वर्णन है तथा सप्तम् में कैकेयी और मंथरा का संवाद है, जो सभी बड़े मधुर बन पड़े हैं। उदाहरणार्थ इन छन्दों को देखें—

हो चला पर शक्ति का तन ह्रास अब।
कौन जाने जीर्ण-शीर्ण-विकीर्ण-सा,
झड़ पड़ूं कब पीत-पर्ण-विदीर्ण-सा,
मृत्यु का बनना पड़ेगा ग्रास कब !! (सर्ग ४, छन्द ८)

अथवा

मार्ग के दोनों किनारों अंग-रक्षक-भांति।
नवल कोई फूल-गमलों की जमाता पाँति।।
(सर्ग ६, छन्द ४०)

दशम् सर्ग में कैकेयी का उग्र रूप दिखाया गया है और इसी में दशरथ-कैकेयी संवाद के रूप में दो वरदानों का विपदंशन है। एकादश सर्ग में वरदान-जन्य विभीषिका का चित्रण है, द्वादश में वन-गमन निर्णय पर राम-लक्ष्मण संवाद और त्रयोदश में राम-जानकी संवाद है। इन सर्गों में राम का 'मानव' रूप अधिक उभरकर सामने आता है। अन्य राम-कथाकारों के समान 'चन्द्र' जी के राम मूक आज्ञा-पालक पुत्र ही नहीं है, वरन् वह एक विचारवान् राजनीतिज्ञ एवं कर्तव्य-परायण जन-हितैषी भी हैं। लक्ष्मण के यह कहने पर कि—

राजनीति जागीर न कुछ, जनता-रक्षण को शासन।
भले करे नृप कुछ भी प्रण, तुम जनता के निर्वाचन।।
(सर्ग १२, छन्द ५८)

राम का उत्तर था—

नृप-वचन प्रथम, अब जन-मत, तब किसको अधिकार मिले ?
मत विभिन्न हो सकते, यों—राष्ट्र ऐक्य की जड़ें हिलें।।
पुर अशांति, गृह-कलह मचे, दल-दल में छिड़ जायें रण।
आपस का कलह,—पड़ोसी शत्रु-राष्ट्र को आमन्त्रण।।
(सर्ग १२, छन्द ६८-६९)

वे रण से भय नहीं खाते हैं, वरन् दूरदर्शिता से विचार करते है—

रण से मैं कब डरता, पर रक्त बहे न अनावश्यक।
राजनीति में तो अतिशय, दूरदर्शिता आवश्यक॥
(सर्ग १२, छन्द ६६)

राम तो मानव के कल्याण की बात सोचते हैं, स्वार्थ की नहीं—

मानव-कल्याणार्थ बनें अविचार छोड़ सुविचारी।
व्यवहार अधर्मयुक्त ज्यों, वर्जित त्यों अनर्थकारी॥
(सर्ग १२, छन्द ७१)

एक त्याग से मेरे यदि राष्ट्र-विपत्ति टले दुगनी।
जन-हित में फिर क्यों न करूँ ? बलिदान बपौति अपनी॥
(सर्ग १२, छन्द ७३)

राम-लक्ष्मण संवाद सुलझे हुए राजनीतिक विचारों की ऊहापोह का सुन्दर उदाहरण है।

त्रयोदश सर्ग में राम-जानकी संवाद है और चतुर्दश सर्ग में भरतागमन आदि की कारुण्यपूर्ण चर्चा है। इस प्रसंग में एक बात विशेष ध्यान देने की है कि श्री केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' की कैकेयी के समान[1] 'चन्द्र' जी की कैकेयी ने यह कल्पना कभी नही की थी कि वरदान पर अड़ी रहने से दशरथ की मृत्यु हो जाएगी।

तुलसी के अनुसार—

परउँ कूप तव वचन पर, सकउँ पूत पति त्यागि[2]

कहकर उसने पति के विछोह की परोक्ष कल्पना भी न की थी और न भरत के लौटने पर पति-मरण के दुःख को भूलकर हर्षातिरेक से भरत की आरती ही उतारी थी। दशरथ की मृत्यु पर 'चन्द्र' जी की कैकेयी को बड़ा दुःख होता है। भरत के पूछने पर कि "पिता कहाँ है ?" कैकेयी का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

हुईं ये शब्द सुनते विनत पलकें।
रुके रोके न, बरबस अश्रु ढलके॥
रही कुछ देर फिर वह मौन तकते।
वचन निकले तनिक रुकते-अटकते॥
(सर्ग १४, छन्द १५)

---

१. वैधव्य मुझे स्वीकार, राष्ट्र तुम्हारी जय हो—प्रभातकृत कैकेयी काव्य।
२. रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा २८।

आगे चलकर पश्चात्तापपूता कैकेयी का चित्रण इसी सर्ग में कवि ने इस प्रकार किया है—

रही अब तक बनी वह मौन पत्थर।
बहा अविरल विमल जल नयन-निर्झर॥
तरल बन वह गया मल सकल घुल, गल।
हुआ मानस मुकुर-सा स्वच्छ, उज्ज्वल॥
(सर्ग १४, छन्द ६२)

पचदश सर्ग में चित्रकूट मिलन प्रसंग है और षष्ठदश सर्ग में 'साकेत' की विरहिणी उर्मिला के समान पश्चात्तापपीड़िता कैकेयी की ऋतुचर्या है जो सायास पद्यों का पल्ला छोड़ अनायास पदों के स्वरों में प्रवाहित हुई है और अच्छी सरस बन पड़ी है।

वृथा अरी क्यों आज, कूकती-कोयल,
हुआ विगत ऋतुराज, कभी का ओझल,
रोता अम्बर, स्रवत मेदिनी अचल,
पल-पल चंचल सरित चली व्याकुल मन।
उमड़-उमड़ कर बरस रहे दुखिया घन!!
(सर्ग १६, छन्द, २३)

अथवा

तेरे दुख में विरल, तरल उज्ज्वलता,
पीड़ा में मम गरल, अनल, असफलता,
उर जलता, मैं मूक, नहीं वश चलता,
शरद! सरस तू, यहाँ विरसता छाई!
वर्षा बीती, वरद शरद ऋतु आई!!
(सर्ग १६, छन्द ३२)

शब्द-शब्द जैसे हृदय रस मे घुले परस्पर लिपटते हुए चलते हैं।

अन्तिम तथा सप्तदश सर्ग में राम का प्रत्यागमन और राजतिलक है, जिसके उपसंहार रूप से कैकेयी और राम का यह वार्तालाप प्रस्तुत हुआ है—

कैकेयी—देखेगा परिणाम प्रकट जग, कब समझेगा अन्तर!
विधि-विधान जो लगा सदा को, यह 'टीका' मस्तक पर!!
राम—अकपट तव शुचि मनोभावना, भले न समझे जग भर।
मैं तो माँ! प्रत्यक्ष देखता, हृदय उमड़ता सागर॥
(सर्ग १७, छन्द ५३)

भाषा की चारुता, भावों की गम्भीरता, मुहावरों का प्रयोग, कल्पना-विलास और मार्मिक अभिव्यक्तियों के कुछ और नमूने देखिये—

१. चले दण्ड-कोदण्ड-मुग्दल-गदा,
तड़ित कौंधती असि चमकती जिधर।
विजय तो बिचारी भटकती रही,
इधर से उधर, फिर उधर से उधर॥
(सर्ग ३, छन्द २६)

२. चांद ने तब पूर्व दिशि से झांककर,
मुसकुरा नभ पर बिखेरा सित सुमन।
हर्ष से खिल-खिल उठा संध्या-वदन,
प्रेम शशि का सहज, निश्चल आंक कर॥
(सर्ग ४, छन्द ३४)

३. प्रथम इसके कि डसने फन भुजग खोले।
उचित यह, कुचल दें मुख गरलमय उसका॥
(सर्ग ५, छन्द ५०)

४. रहूं राज्य तब, झूठ कहूं तो दें सजा।
उड़ती चिड़िया-गगन, चेरि पहचानती॥
(सर्ग ७, छन्द ४९)

५. फिर करे सन्देह कोई इस तरह तो,
तन सुलगता लोट उर पर सांप जाता।
(सर्ग ८, पंक्ति १२१/१२२)

६. भोर होते भाग्य पर कोई हँसेगा,
औ' किसी पर भाग्य ही हँसने लगेगा।
(सर्ग ८, पंक्ति १५६/१५७)

७. रण या वन गहन, सदन शोभन, क्या अंतर रणधीरों को?
हर संकट देवी अवसर ही, कुछ कर जावे वीरों को॥
(सर्ग ११, छन्द ६७)

८. "अनुज! छोड़ते उसे, क्यों रोष उस पर?
कनक में खोट अपने, दोष किस पर?
(सर्ग १४, छन्द ५९)

'किये गमन वे' (सर्ग १४, छन्द २८) में जैसे एकाध स्थान पर 'ने' का अभाव अहिन्दी प्रदेश के प्रभाव के कारण समझना चाहिए। सर्ग ५ के ३९ वें

छन्द में कवि ने अहिंसा को वैयक्तिक धर्म अथवा व्यष्टि धर्म और उबलते रक्त से धमनियाँ फटने को—तेज-बल आतप को—समष्टि-धर्म बताया है। छन्द है—

भले हों व्यक्ति-शोभा त्याग, करुणा, तप,
अहिंसा धर्म, उर की स्पृह्य कोमलता,
समष्टि हितार्थ वांछित तेज, बल आतप,
उबलते रक्त से हों धमनियाँ फटतीं ॥

(सर्ग ५, छन्द ३९)

गांधीवादी सज्जन तो स्वभावतः ही इस पर प्रश्नचिह्न लगा देंगे।

सर्ग १३ के छन्द १८वें में 'चन्द्र' जी के राम वन-गमनाभिलाषिणी सीता को गृह परिचर्या में रत रहने का उपदेश देते हुए कहते हैं—

करना न भरत राजा-सम्मुख, मम यश-गान विशेष।

स्पष्ट ही इन पंक्तियों में तुलसी के विपरीत वाल्मीकि की छाया अधिक प्रभाव दिखा रही है। तुलसी का प्रभाव अधिक उचित होता। किन्तु यह तो अपनी-अपनी रुचि की बात है। श्री 'चन्द्र' जी ने जहाँ से जो प्रभाव उचित समझा वह ग्रहण करने में झूठा संकोच नहीं दिखाया, परन्तु जो भाव उन्होंने अपनाया उसे अपना बनाकर और अपनी मौलिकता से मण्डित करके प्रकट किया है, यह उनकी विशेषता है।

काव्य-शास्त्र की परम्परा में महाकाव्य के जो गुण होने चाहिए, उन्हें इस काव्य-ग्रंथ में लाने का श्री 'चन्द्र' जी ने पूरा किया प्रयत्न है। यह काव्य सर्गबद्ध है। सर्ग सत्रह हैं, न बहुत लम्बे न बहुत छोटे। सर्गान्त में वृत्त बदल दिया गया है। नये-नये छन्दों का प्रयोग इस ग्रंथ की विशेषता है। भिन्न-भिन्न प्रकार से तुकों का मेल भी अपने-आप में इसकी एक विशेषता है। इसमें न केवल प्राकृतिक परिवर्तनों का (संध्या, प्रभात, भिन्न-भिन्न ऋतुएँ, नदी, पर्वत आदि के दृश्यों का) किन्तु पौरुषेय (मानवी) मनोभावों का भी सुन्दर विश्लेषण है जिससे यह न केवल इतिवृत्तात्मक रचना की वस्तु ही बनकर रह गया है, किन्तु मनोवैज्ञानिकता की कसौटी पर भी कसा जाने से खरा उतर रहा है। इसमें उदात्त चरित्रों का सफल चित्रण है। सहानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए प्रसादगुणयुक्त भाषा का सहारा लिया गया है। श्री अग्रवालजी के पर्याप्त मनन, चिन्तन और साथ ही अध्ययन, अनुशीलन का इसमें योग है। अकविता के इस युग में शास्त्रगत कविता की परम्परा का यह निर्वाह निश्चय ही एक विशेष बात है।

महाराष्ट्र प्रदेश की औरंगाबाद छावनी में निवास करने वाले श्री चाँदमल अग्रवाल 'चन्द्र' एम० ए०, एल० एल० बी०, डी० कॉम०, साहित्यरत्न, काव्यमनीषी, हिन्दी रत्न, महोदय का काव्य-प्रेम अनेक दृष्टियों से प्रशंसा के योग्य है। पहली बात यह है कि वे अहिन्दी प्रान्त के एक छोर के निवासी हैं। दूसरी बात यह कि अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक कार्यों को सम्भालने के अतिरिक्त वे वाणिज्य-व्यवसाय में इस प्रकार संलग्न हैं जिससे शिक्षा विभाग अथवा साहित्य-रचना का प्रायः षडाष्टक योग ही माना जाता है। फिर भी वे सरस्वती की साधना के लिए समय निकाल ही लेते हैं। विपरीत वातावरण में रहकर भी उन्होंने हिन्दी के लिए अपने क्षेत्र में बहुत काम किया है और स्वतः भी अनेक रचनाएँ कर डाली हैं जिनमें कई प्रकाशित और विद्वज्जनों द्वारा समादृत भी हो चुकी हैं। देश-काल की विषम परिस्थितियाँ आपकी जन्मजात काव्य-प्रकृति के संवर्धन में बाधक न बन पाईं और आज हम प्रसन्नता के साथ उनकी इस नई महत्त्वपूर्ण कृति 'कैकेयी महाकाव्य' के दर्शन कर रहे हैं।

मैं उनके परिवार के सारस्वत वातावरण का अभ्युदयाकांक्षी होकर इस कृति के उज्ज्वल भविष्य की शुभ कामना करता हूँ।

राजनांदगांव
१ जून, १९६९

—बलदेवप्रसाद मिश्र,
एम० ए०, डी० लिट्०

क्रम

सर्ग	विषय	पृष्ठ
—	भूमिका	
—	वन्दना	६
—	परिचय	१०
प्रथम	बचपन व विवाह	११
द्वितीय	वैवाहिक-जीवन	१७
तृतीय	देवासुर-संग्राम	२३
चतुर्थ	राज्याभिषेक-मंत्रणा	३०
पंचम्	राष्ट्रीय परिस्थिति एवं विचार-मंथन	३६
षष्ठ	राज्याभिषेक निर्णय व तैयारी	४६
सप्तम्	कैकेयी-मंथरा-संवाद	५४
अष्टम्	अन्तर्द्वंद्व (१)	६३
नवम्	अन्तर्द्वंद्व (२)	७६
दशम्	उग्र-रूप	८८
एकादश	वरदान-विभीषिका	१०३
द्वादश	वन-गमन-निर्णय	११७
त्रयोदश	राम-जानकी-संवाद	१३०
चतुर्दश	भरतागमन	१४२
पंचदश	चित्रकूट-गमन	१५४
षष्टदश	पश्चात्ताप	१६६
सप्तदश	राम का अवधागमन तथा राजतिलक	१७८

वन्दना

(पीयूषवर्ष छन्द)

शुचि उतारे "चन्द्र", मानस आरती।
छेड दो वह तान, फिर माँ भारती॥
लेखनी वरदान उर तव धारती।
विमल नारी-चरित, सहज सँवारती॥

परिचय

(रुचिर छन्द)

महाकाल की महानायिका,
गायिका प्रलय के स्वर की।
चण्डिका मनो महाभयंकर,
वह शंकर प्रलयकर की॥
जग ने जिसका नित विषमय ही,
पाषाणी-रूप निहारा॥
बहती उस पत्थर के नीचे,
पर विमल सुधा की धारा॥

प्रथम सर्ग

(रुचिर छन्द)

अमन्द क्षितिज पर प्राची दिशि के,
रुचिर विमोहित-सी लाली।
खेल रही मृदु किरण सुनहली,
ऊषा की भोली-भाली॥
हिमकर ने कर दिया प्रथम ही,
सुधा-विसिंचित नभ का पथ।
निकल पड़ा अब धीरे-धीरे,
सहस्र-किरण का ज्योतित रथ॥१॥

स्वागत में नभ ने दिनकर के,
प्रमुदित कंचन बरसाया।
द्विज-समूह ने मन भर जिसको,
गाकर विरुदावलि पाया॥
सूर्यमुखी ने, नलिनी ने भी,
पथ पलकें मुदित बिछाईं।
कर-स्पर्श से सुध-बुध खोकर,
लहर-लहर सर लहराई॥२॥

लिये खड़ा हिम-खण्ड हिमाचल,
अंचल में नवनीत मृदुल।

रक्तिम-स्वर्णिम - किरणस्पर्शित,
उठीं उमंगें हृदय विपुल ।।
झर-झर कर झरता आनँद-रस,
वह-वह कर, झरने वनकर ।
कहते दिनकर की यश-गाथा,
मुखर उतर कर भूतल पर ।।३।।

सुस्थिर नन्हीं गिरि-वालाएँ,
परियों-सी पर फैलाये ।
डाल आवरण कुहरे का, घन—
चूम, सिक्त मन कर जाये ।।
लगन लगी-सी नदियाँ वहतीं,
कल-कल कर हर्षित होतीं ।
नीलम की चादर पर पड़ते,
विखरे माला के मोती ।।४।।

भिन्न-भिन्न लतिका-वृक्षों की,
चुनरी पर पच्चीकारी ।
नभ-सा विस्तृत सरवर, उड़ती—
हंसों की टोली न्यारी ।।
रंग-विरंगे कुसुम सुरभिमय,
धरती का निरुपम उपवन ।
सुरपुर इसके दरवाज़े पर,
पानी भरता नन्दनवन ।।५।।

हुआ प्रमोदित मन्द समीरण,
कुसुम - कपोलों को छूकर ।
सुमन चकित, रोमांचित किंचित,
टपक पड़े मधु-कण चूकर ।।
नाच रहीं तितलियाँ रम्य जब,
मुग्धा - सी भोरी - भोरी ।
घूम रही कमनीय कौन तब,
कोमल तन, नवल किशोरी ।।६।।

उतर किरण-पथ ऊषा भूपर,
मन्थर गति करती विचरण।
स्वागत-हित ही किया प्रकृति ने,
नव मन-भावन आयोजन ॥
प्रकृति स्वयम् सज-धज कर अथवा,
धर कर रमणी-रूप नवल।
निज छवि का प्रतिविम्व निरखती,
कर में धर सर-मुकुर धवल ॥७॥

प्रकृति स्वयम् लख रूप विमोहित,
चित्र-लिखित-सी हुई थकित।
चकित परस्पर सुन्दरता पर,
दोनों ही सस्मित-विस्मित ॥
प्रकृति खिली, नव वाला थिरकी,
मधुर - मधुर पायल-रुनझुन।
पंछी - कलरव, षट्पद - गुंजन,
मुखरित उपवन, कोकिल-धुन ॥८॥

दृश्य मनोहर लख कर ठिठके,
नभ में घन मोहित होकर।
भूल पलायन मदिर विखेरा,
सुरभि पवन ने सुध खोकर ॥
विखरा निखरा रूप निरख कर,
थामे मन कोई क्योंकर।
इन्द्र-धनुष-सा जाल विछाया,
दिनकर ने स्वर्ण सँजोकर ॥९॥

सघन कुंज से कुछ नयनों ने,
पहले चुपके-से हेरा।
राज किशोरी कैंकेयी को,
फिर सखियों ने आ घेरा ॥
पकड़ी वाँह, कपोल छुए मृदु,
'खिल-खिल' मोहक ध्वनि छाई।

"क्यों नाहक दिक करती सखियो !
अधिक न छेड़ो रानी को।
वरना सब कुछ कह देगी वह,
अपने दशरथ मानी को ।।"
सखियाँ सब खिल-खिला उठीं फिर,
लटपटीं परस्पर लिपटीं।
खिझला-झुँझला राजदुलारी,
उस नटखट सखि पर झपटी ।।१८।।

चीख पड़ी वह—"अरे, अरे ! यों,
हम पर बिगड़ी क्यों जातीं ?
उपहार नहीं तो कम से कम...
...लो, हम कुछ नहीं सुनातीं ।।"
हँसी-बीच तब कहा अन्य ने,
"यह तो असफल अभिनय है।
बाहर झुँझलाहट, भीतर मन,
लयमय, तन्मय, प्रियमय है" ।।१९।।

भगी-भगी-सी, ठगी मृगी-सी,
राजकुमारी विथकी-सी ।
बुद्धि-हरी-सी खड़ी रही चुप,
चकई-सी, चकी-थकी-सी ।।
नयन खुले-अधखुले-मुँदे-से,
मन खोया, तन हारा-सा।
देख रही हो जगते मानो,
सपना दिन में प्यारा-सा ।।२०।।

(वसंततिलका वृत्त)

धीरे सखी चतुर एक समीप जाके।
वार्ता सहर्ष नृप-नारद की सुनाई ।।
हो लाल लाजयुत हाथ छुड़ा भगी वो।
होके पिया-मगन 'चन्द्र'-मुखी किशोरी ।।२१।।

द्वितीय सर्ग

(सुखदा छन्द)

नभ पर शशि सुखदा लख-उदित, मुदित रजनी।
सिमटी सकुचाई-सी, सिहरन युत सजनी॥
लज्जागत आँखें नत, घूँघट मुख सरका।
आवरण लपेटा तन, काले अम्बर का॥१॥

चुन-चुन तारा-मोती, नील-सरोवर से।
प्रियतम के हित गूँथी, माला निज कर से॥
पर समीप प्रिय को पा, सहमी शरमाई।
कम्पित कर से वह फिर शशि को पहनाई॥२॥

रजत-करों में शशि ने, उसको सिमटाया।
अवगुण्ठन मुख पर का, सहसा उलटाया॥
अपलक रहा देखता, सरस रूप निखरा।
दिये हार के मोती, फिर उस पर विखरा॥३॥

खींच लिया असिताम्वर, फिर धीरे तन का।
झीने श्वेत पटल से अंग-अंग झलका॥
परिरम्भित हो प्रिय से निशि न डुली न हिली।
रजतमयी वह शशिमय, वन चन्द्रिका खिली॥४॥

नव दुलहिन कैकेयी, बैठी लिपटी-सी।
ले सरूर आँखों में, निशि-सी, सिमटी-सी॥

दीपक, हीरक, मौक्तिक, तारक-से झिलमिल।
रसमय होने आतुर, मन प्रियतम से मिल ॥५॥

दशरथ ने आ पलटा, घूँघट चुपके से।
रूपासव पी मधुमय, रह गए छके-से॥
"सुघड़ रूप यह कैसे, रच पाया होगा!
रचकर रचनेवाला, चकराया होगा!! ६॥

"अंग-अंग-हित होंगे, कितने रच डाले।
पदार्थ उसने पहले, सुन्दरता वाले॥
कितने फूलों, मधुपों, शशियों, कलशों को!
गढ़ा न जाने होगा, कितने नक्शों को!! ७॥

"अनुरूप उन्हीं के कुछ, सुन्दर अंग गढ़े।
स्वर्ण-लता में फिर वे, रत्न सयत्न जड़े॥
वहुतेरा तव मन को, अपने वहलाया।
पर उस 'रचना' से कुछ, सन्तोष न पाया॥८॥

"एक नया तव उसने, प्रारूप बनाया।
उपकरण अनूठे ले, साँचा घड़वाया॥
तीनों ही लोकों की सुषमा को लेकर।
साना मदिरा का पुट, उसमें दे-देकर॥९॥

"मनोयोग से गढ़ कर, साँचे में ढाला।
सुधा-चासनी का ले, हाथों में प्याला॥
सरावोर कर डाला, उस पर छिड़का कर।
प्राण-प्रतिष्ठा तव फिर की, तन्मय होकर!! १०॥

चतुरानन को—रचकर, तुमको यों रानी।
हुई कला पर अपनी, होगी हैरानी!!
रूप अनेकों तव से, रच-रचकर हारा।
गढ़ न सका पर अव तक, मन-हर यों न्यारा"!! ११॥

गठरी-सी कैकेयी, सिकुड़ी, शरमा कर।
ढाँप लिया मुख सहसा, घूँघट सरका कर॥

विखर गई थोड़ी-सी अलकें घन-काली।
छिप न सकी पर छाई, कानों तक लाली ।।१२।।

"नाग-पाश-सी अलकें, खर-शर-सी आँखें!
सुधा-सनी अधरों की, अरुणिम ये पाँखें!!
उठतीं-झुकतीं पलकें, मुख पर की लाली!
सब कुछ कहती भाषा, यह मूक निराली!! १३।।

"छिपा सकेगा कैसे, यह झीना-सा पट।"
कहते-कहते नृप ने, उलटाया घूंघट।।
स्फुट, अस्फुट, कम्पित स्वर, "क्या हुआ तुम्हें है?"
भर ली गई अंक में,—"जो हुआ तुम्हें है" ।।१४।।

मन गद्गद, तन सिहरन, मुख पर अरुणाई।
लज्जा से बोझिल नत, प्रिय-भुजा समाई।।
विधु-मुख अँखियाँ, अँगुरी, कुन्तल उलझाई।
अरुणाधर पर पिय ने, निज मुहर लगाई ।।१५।।

'हाँ-ना' स्फुट वाणी युत, लतिका-सी काँपी।
लाल लाज से होकर, कर से मुख ढाँपी।।
सिमटी-सिमटी दुलहिन, प्रिय-भुज में भीतर।
विखरी पड़ती ज्योत्स्ना, खिल-खिल कर बाहर ।१६।।

कहा चिवुक धर-"देखो, शशि-निशि का मिलना।
शशि में निशि का लय, निशि में शशि का खिलना।।"
"मिटा 'स्व' को लीन हुई, प्रिय शशि में रजनी।
बनी 'चाँदनी' पाकर, चन्दा को, सजनी ।।१७।।

"करो हृदय में विचरण—नित, दर्शन-प्यासी—
रहूँ सदा मैं स्वामी! चरणों की दासी।।"
"प्राण एक, तन दो हम, संगिनि जीवन की!
स्वामिनी हृदय की तुम, सम्राज्ञी मन की"!! १८।।

अलस मयंक-अंक से, रजनी सजग हुई।
बुझा दीप तारों के, वेमन अलग हुई॥
प्राची में हलकी-सी, छाई अरुणाई।
ऊषा लजवन्ती ने, ली फिर अँगड़ाई॥१९॥

चूमा निद्रित रवि का, मस्तक सकुचाये।
बाँधा रवि ने कर में, किंचित मुसकाये॥
लज्जा-बोझिल ऊषा, नत-मुख झुक आई।
प्रथम अरुणिमा मुख फिर स्मित स्वर्णिम छाई॥२०॥

पिय की वहियाँ तिय ने, धीरे परस कहा—
"हुआ प्रभात सुनहला, कैसी विभा अहा!!
एकाकी विभ्रम-सी, वाला छुई-मुई।
रवि-चरणों में स्वर्गिक, सुषमा स्वयम् हुई" ॥२१॥

रहे देखते आँखें, आसव छलकाती।
छुए कपोल मृदुल फिर, वह रही लजाती॥
"निष्प्रभ, निस्तेज, निवर, निद्रित, थका-थका।
रवि अब पा कर ही तो, ऊष्मा को, चमका" ॥२२॥

पूर्ण यौवना प्रौढ़ा, अब ऊषा-वाला।
रवि ने भी किरणों का, जाल बिछा डाला।
हिलती-डुलती छाया, तरु की यों भोली।
दिवा-दिवाकर खेलें, ज्यों आँख-मिचौली॥२३॥

प्रिया-संग नृप खेले, चौसर मोद भरे।
हसी कभी छा देते, वचन विनोद भरे॥
"ये दस, छः, वारह, वह—गोट गई मारी।"
पिय ने जीती वाजी, तिय-सुख-हित हारी॥२४॥

वातायन से वाहर रमणी ने झाँका।
कुछ पल रही देखती, नव दृश्य वहाँ का॥
"देखो प्रियतम! छाया, वह सिमटी-सिमटी।
कैसी सुभगा! तरु के चरणों से लिपटी" ॥२५॥

"इस दोपहरी में जब, दिनकर प्रखर, प्रिये !"
कर में कर, अधरों पर, मृदु मुसकान लिये ॥
"पंथी छाया-हित ही, जाते वृक्ष-तले।
तरु 'तरु' है 'छाया' से, जग के दुख सह ले" ॥२६॥

एक साँझ जब छाये, घन काले-काले।
सन्ध्या रानी के ज्यों, कुन्तल घुंघराले ॥
दमक दामिनी की लख होती अवरेखा।
भरी माँग में हो ज्यों, सिन्दूरी रेखा ॥२७॥

नव-निशि-मुख पर शोभित, बहु रंग पुहुप के।
प्रिय ने मूंदी अँखियाँ, आ चुपके-चुपके ॥
रखे कमल - दल अपने उन पर बाला ने।
"ये कर तो युग-युग के, जाने-पहचाने" ! ! २८॥

मुड़कर मुसकायी फिर, "प्रियतम् ! वह—चपला।
घन में उठ घन में ही लीन हुई सफला ! !"
"तुम समझीं और प्रिये मैंने तो लेखा।
विद्युल्लेखा ही तो, घन की स्मिति-रेखा" ! ! २६॥

रवि ने थक कर डाला, पश्चिम--तट डेरा।
धरती-अम्बर को भी, निशि-तम ने घेरा ॥
झिलमिल करती हिल-मिल, अम्बर-ललनायें।
प्रियतम-हित नभ-आँगन, पथ आँख बिछाये ॥३०॥

द्वार खोल प्राची का, राकापति आये।
तारक बालाओं ने, घेरा हर्षाये ॥
हुई चकोरी प्रमुदित, नलिनी मुसका दी।
भरी सुधा की गगरी, शशि ने छलका दी ॥३१॥

कौशल्या, कैकेयी, सुरुचि, सुमित्रा भी।
सुमुखि, उदार-मना, शुचि, चारु-चरित्रा भी ॥

सुविनोद-निमग्ना वे, मोद-प्रमोद भरीं।
न विभेद ज़रा उनमें, प्रेम-पयोद भरीं ॥३२॥

(मनोरम वृत्त)

सुनते-लखते सब द्वार खड़े चुप।
मुसकान लिये मुख-'चन्द्र' नरोत्तम ॥
टपके दृग-अम्बु, सराह थके फिर।
छल-हीन परस्पर प्रीति मनोरम ॥३३॥

तृतीय सर्ग

देवासुर-संग्राम

(शक्ति छन्द)

गगन पर प्रखर तर दिवाकर-प्रभा;
किसी से सही शक्ति जाती नहीं।
मिटे सब निशाचर-असुर, अब रहा—
नहीं नाम तक भी तिमिर का कहीं ॥१॥

निजाधीन तारक-सुभट कर लिये;
सुमुख तमतमाता नभासन निखर।
सुयश, तेज, उत्ताप उसका गया,
गगन ही नहीं, अवनि पर भी बिखर ॥२॥

सुविख्यात मार्तण्ड-कुल अज-तनुज;
धरा के प्रतापी प्रभाकर प्रबल;
रहा फैल दशरथ महाराज का,
सुयश मेदिनी से गगन तक विमल ॥३॥

प्रजा-साधु-सद्धर्म-रक्षार्थ त्यों
दनुज-दल-दलन को मनुज-भुज सबल।
पराक्रम, अदमनीय विक्रम स्वयम्,
मनो संगठित सब हुए भूप-बल ॥४॥

सभी ओर थी धाक उनकी जमी;
चतुर्दिक विजय-दुंदुभी गूंजती।

करे रण वही, प्रिय मरण हो जिसे;
पराजय सदा शत्रु को पूजती ॥५॥

हुआ 'शंवरासुर' उधर जब सबल;
सुरासुर-समर इन्द्रपुर में ठना।
कृपा-कोर का कोशलाधीश की,
कुलिश-ईश भी दीन याचक बना ॥६॥

"सघन दण्डकारण्य—दक्षिण दिशा,
नगर वजयन्ती समुन्नत जहाँ।
धरा नाम 'संवर', प्रतापी अमित,
'तिमिध्वज' दनुज राज्य करता वहाँ ॥७॥

"गया फैल आतंक यों क्रूर का;
मनो वीर-शस्त्रास्त्र कुण्ठित हुए।
कई राज्य पैरों-तले रौंदते;
कई भूप, भट भूमि-लुंठित हुए ॥८॥

"छिड़ा अब सुरों से भयंकर समर;
रहा सैन्य का हो निरंतर हनन।
विना आपके त्राण होगा नहीं,
करें खल-निकंदन! असुरगण-दलन" ॥९॥

रही रीति रघुवंश की नित यही,
कि शरणागतों को अभय दान दे।
भला शक्य कैसे कि देवेन्द्र की,
विनय—ओर दशरथ वधिर कान दे ॥१०॥

चले रानियों से विदा-हित तुरत;
चमू इधर तैयार होने लगी।
सुना जब समाचार तो नृप-निकट,
गई केकई प्रेम-रस में पगी ॥११॥

"चलूँ साथ ही नाथ मै आपके;
करूँ आज सारथ्य, जी चाहता।

तुम्हारे शरों को लखूँ युद्ध में,
असुर-वक्ष-तन-रक्त-अवगाहता" ॥१२॥

हँसे तनिक अवधेश—"तुमने कहीं,
समझ खेल रण को लिया क्या प्रिये ?
महाप्रवल, दुर्द्धर्ष 'संवर' विदित,
समर से अमर भी पलायन किये ॥१३॥

"प्रकृत कोमलांगी कमल-दल-सदृश;
कहाँ योग्य तुम-हित रणक्षेत्र है ?
करो राज्य मन पर हमारे यहीं—
हृदय-सारथी तव बने नेत्र हैं" ॥१४॥

"न भूलो कि मैं अश्वपति की सुता;
न भूलो अवध-नाथ की वल्लभा।
कि वीराङ्गना आर्य-नारी विदित,
भरत खण्ड-गरिमा, जगत-दुर्लभा ॥१५॥

"समर - ज्ञान - सारथ्य - पारंगता;
महाभाग! रणभूमि छाया वनी।
रहूँ साथ ज्यों सूर्य के सँग विभा,
महत् चाँद के साथ ही चाँदनी" ॥१६॥

निरुत्तर हुए भूप, प्रेमाम्बु दृग,
हृदय से लगा, चूम 'सरसिज' लिया।
लिये साथ सेना चुनी, कूच फिर—
पवन-गति-रथारूढ़ नृप ने किया ॥१७॥

सुरों के दिलों पर लहर-सी उठी,
गई जान में जान ही आ गई।
अयोध्याधिपति के पहुँचते वहाँ,
असुरगण-वदन-मुर्दनी छा गई ॥१८॥

कटक का मनोवल वढ़ाने तभी,
असुरराज ने घोर हुंकार कर।
चलाये कई एकदम वाण यों,
उड़े जा रहे सर्प ज्यों पक्षवर ॥१६॥

चलाकर गरुड़-से झपटते विशिख
विपल में नृपति ने उन्हें कर विफल।
चला स्तूप-सा सायकों का, किये—
घनाच्छादिता-सी दिशाएँ सकल ॥२०॥

वड़े धैर्य से कर निवारण उन्हें
दनुज ने दिये फेंक भाले युगल।
किये वीच में टूक जिनके कई,
विशिख एक ही से नृपति ने सँभल ॥२१॥

किधर से किधर शर चले, कव चले,
पता तव लगे, वक्ष में जव गड़े।
कहीं मुण्ड से मुण्ड टकरा रहे,
कहीं सिर विना लड़ रहे धड़ अड़े ॥२२॥

शवों से गया भर रणस्थल सकल,
रुधिर की सरित ही वही जा रही।
पड़े खण्ड खण्डित रथों के कई,
गई पट गजों—वाजियों से मही ॥२३॥

घहरते समर-भूमि में रथ यथा,
सघन मेघ ज्यों गगन हुंकारते।
विपिन गूँजता केहरी-घोष ज्यों,
थहरती धरणि धनुष टंकारते ॥२४॥

कुशल वीर विख्यात 'शंवर' उधर,
प्रतापी, महाशूर दशरथ इधर।
अमित वाण-वर्षा हुई इस तरह,
विशिख ही विशिख जिधर देखो तिधर ॥२५॥

चले दण्ड-कोदण्ड-मुग्दल-गदा;
तड़ित कौंधती असि चमकती जिधर।
विजय तो विचारी भटकती रही,
इधर से उधर, फिर उधर से इधर ॥२६॥

निशाचर रहा आसुरी युद्ध कर,
भयंकर, लयंकर, विविध रूप धर।
मगर काटते नृप चपलता सहित,
प्रखर-शर निकर वे अधर ही अधर ॥२७॥

सभी दंग थे केकई की निरख,
अतुल धीरता, अश्व-चालन-कला।
कभी रेंगता-सा, उरग-सा कभी,
कभी रथ हवा में अधर उड़ चला ॥२८॥

असुर-वार बेकार कितने किये,
महज़-युक्ति से, सहज रथ को फिरा।
कभी रथ बचाया, किया मंत्र-सा,
विकट शत्रुगण-बीच जब-जब घिरा ॥२९॥

शरों से तुरग होड़ करते कदा;
द्विरद-सिर चढ़े जान पड़ते कहीं।
दिखा शत्रु को रथ तदा हर जगह,
यहाँ भी, वहाँ भी तहाँ भी वही ॥३०॥

कभी दाहिने हाथ, बायें कभी,
कभी कर युगल, रास मुँह में कभी।
कभी रथ घुसा शत्रु के व्यूह में,
निकलती चपल दामिनी-सी तभी ॥३१॥

अचानक गई टूट रथ की धुरी,
हुआ भान जब चक्र कुछ डगमगा।
फँसाया पलक झाँपते शर तहाँ,
रहा शत्रु भी लख चपलता ठगा ॥३२॥

पता कुछ न, क्या हो रहा, क्या हुआ,
विगत ज्ञान दशरथ लड़े जा रहे।
महाकाल मानो प्रलय-हित बने,
असुर गण धड़ाधड़ मरे जा रहे ॥३३॥

घमासान संग्राम, तर्पित हुई—
तृषित घोर रण-चण्डिका रक्त से।
चढ़ा स्वयम् सिर-कंज मानो रहे,
सुभट गण सभी मृत्यु-अनुरक्त-से ॥३४॥

अकस्मात छोड़ा 'महाशक्ति' तब,
दनुज ने, कुलिश-सी कड़कती हुई।
सटा भूमि से रथ निकल यों गया,
गई निकल नागिन सरकती हुई ॥३५॥

अवधराज-शर फिर चला मंत्र-युत,
रहा क्षण असुर रथ खड़ा का खड़ा।
गिरा धड़धड़ाकर धरा पर तभी,
अचल-खण्ड ज्यों टूट कर गिर पड़ा ॥३६॥

उठा गूंज आकाश जयकार से,
सुरों ने सस्तुण की नृपस्तुति तदा।
प्रकृति-कण-विकण से प्रतिध्वनि उठी—
'विजय आपकी आर्य्य ! चेरी सदा' ॥३७॥

खिली स्मित नराधिप-अधर— "आज की—
प्रिये ! यह विजय तो तुम्हारी विजय।
बचा प्राण दो वार तुमने लिये,
कहो, दें तुम्हें कौन वरदान द्वय ! !" ॥३८॥

"अहोभाग्य मेरे मिला आपका,
अतुल प्रेम ही नाथ ! वरदान यों।
विना ही कहे मिल गया वर प्रवर;
वरद ! तुच्छ फिर लूं अपर दान क्यों ! !" ॥३९॥

चतुर्थ सर्ग

राज्याभिषेक-मंत्रणा

(आनन्दवर्द्धक छन्द)

दिवस भर आनन्दवर्द्धक जगमगे।
दीप्त करके भूमि-अम्बर, चर-अचर,
तेज फैला सब दिशाओं में प्रखर;
दिन-विभूषण अब थके लगने लगे ॥१॥

बस, रही इच्छा कि 'संध्या-गोद में;
लेट कर टुक दो घड़ी आराम से।
मुक्त हो निश्चिंत अब तो काम से;
शेष जीवन निज बितायें मोद में ॥२॥

'लोक-प्रिय द्युतिमान, गुण-आगार वह;
जो यशध्वज योग्यतम हर बात में।
सौंप दें उस चन्द्रमा के हाथ में,
जग-प्रकाशन-कार्य का सब भार यह' ॥३॥

राय करने को यही मानो चले,
पद्मिनी-उर-नाथ हो पश्चिम निकट।
प्रेम की मुख पर सहज आभा प्रकट;
लग रहे वे सौम्य से कितने भले ! ! ४॥

कर रहे गम्भीर दशरथ मंत्रणा।
मुनि वसिष्ठ समक्ष बैठे कक्ष यों—
"है उपस्थित प्रश्न देव! समक्ष यों,
वढ़ रही क्रमशः जरा की यंत्रणा ॥५॥

"पूर्ण मेरी हो गई सब कामना।
राज्य-धन-दौलत-सुयश पाया सभी;
शौर्य-साहस ने न छोड़ा सँग कभी,
कब पड़ा करना पराजय-सामना? ॥६॥

"योग्य मंत्री, आप-सा गुरु पा लिया।
शत्रुहन, लक्ष्मण, भरत, श्रीराम-से,
पुत्र पाये काम-से, अभिराम-से;
देवियाँ सब रानियाँ, युवरानियाँ ॥७॥

"हो चला पर शक्ति का तन ह्रास अब।
कौन जाने जीर्ण-शीर्ण-विकीर्ण-सा,
झड़ पड़ूँ कब पीत-पर्ण-विदीर्ण-सा;
मृत्यु का बनना पड़ेगा ग्रास कब ॥८॥

"हो रही हे आर्य्य! इच्छा अब यही।
सौंप दूँ सब राज्य-कारोबार को,
कुल-कलाधर राम गुण-आगार को;
शांतिमय लूँ वानप्रस्थाश्रम कहीं ॥९॥

"ज्येष्ठ भी प्रिय राम, सद्गुण-धाम भी।
सर्वदा उसने प्रजा का हित भजा,
चाहती भी अति उसे दिल से प्रजा;
धर्म-रत वह, सत्यकाम, निकाम भी" ॥१०॥

"स्पृह्य तव समयानुकूल विचार यह।
उचित, करना शीघ्र ही शुभ काम का;
अभिलषित अभिषेक कर दो राम का,
योग्य निस्सन्देह सर्व प्रकार वह" ॥११॥

"किन्तु..." दुविधा में गए पड़ अवधपति।
"सामने कैसी समस्या अति विषम,
'प्राण से बढ़कर वचन' रघुकुल-नियम;
राम को या भरत को? समझो न गति ॥१२॥

"पुत्र यों चारों सहज गुणवान हैं।
प्रिय मुझे अत्यंत, सुविचारी सभी,
विनयशील सदा, सदाचारी सभी;
राम तो पर सद्गुणों की खान है ॥१३॥

"भरत का भी नित मुझे अभिमान है।
हृदय पर उसका सदा वर्चस्व है,
किन्तु श्यामल राम तो सर्वस्व है;
आँख है, मेरा हृदय है, प्राण है!! १४॥

"बन गए वे वचन ही तो काल अब।
केकई-परिणय-समय पर जो दिये।
आप ही इस द्वंद्व को सुलझाइये,
क्या करूँ प्रभु! भरत भी ननिहाल अब" ॥१५॥

"व्यर्थ यह मन की तुम्हारी जल्पना।
भरत तो नीतिज्ञ है, धर्मज्ञ है,
गुण-समुच्चय तज्ञ है, तत्वज्ञ है;
चाहिए उठनी न भय की कल्पना ॥१६॥

"केकई निज पुत्र माने राम को।
प्यार उसका भरत से उस पर अधिक,
भेद दोनों में न वह रखती तनिक;
किस लिए शंकित बनो बेकाम को?" ॥१७॥

"सत्य, समुचित आपका गुरुवर कथन।
केकई प्रत्यक्ष प्रतिमा प्रेम की,
उत्सुका नित राम के भी क्षेम की
चल-विचल क्यों हो रहा जाने न मन!! १८॥

"क्या कहेंगे श्रवण केकयराज भी ?
क्या कहेगी सोचिये दुनिया भला ?
यह कि—'रघुकुल-रीति का घोंटा गला';
नित रहेगी गूंजती आवाज़ भी ॥१६॥

"क्या न जायेगा भरत सुनकर सहम ?
जायगा मिट केकई-विश्वास भी।
क्या न दें पहले उन्हें आभास भी ?
या कि अभिमत जान लें उनका प्रथम ?" २०॥

"प्रथम तो यह भय तुम्हारा व्यर्थ ही।
पति-परायण केकई कर्तव्य-रत,
पुत्र उसके—राम क्या या क्या भरत;
भरत-हित तो 'राम' जीवन-अर्थ ही ॥२१॥

"राज्य फिर थाती प्रजा की सर्वदा,
नृपति उसका एक प्रतिनिधि-मात्र ही।
प्राण तो होती प्रजा, नृप गात्र ही;
जन-मनोरथ देखना होगा सदा ॥२२॥

"दण्डधारी भूप को भी जो अगर—
चाहती हो, तो प्रजा सकती हटा।
कौन रोके, शक्ति उसकी उत्कटा;
चुन सके चाहे अभी राजा अपर ॥२३॥

"अश्वपति को हो दिया कुछ भी वचन;
प्रश्न होगा वह तुम्हारा व्यक्तिगत।
भरत निश्चित सत्य-व्रत, सेवा-निरत;
बस रहे पर राम जन-जन-मन-भवन" ॥२४॥

डूबते को तृण-सहारा मिल गया;
चाहते भी कोशलाधिप तो यही।
"पर कहीं गृह-कलह तो होगा नहीं,
हो खड़ा कोई बखेड़ा ना नया" ॥२५॥

तय हुआ आखिर कि केकय-देश को,
देर से सन्देश यह भेजें जरा।
'अन्त शुभ तो कार्य शुभ, मंगल भरा';
उचित,—अवसर दें न वढ़ने द्वेष को ॥२६॥

चल रही गुरु-शिष्य में जब यों यहाँ,
नीति-युत, पर स्वार्थ-भीनी मंत्रणा।
उधर तब रनवास मोदस्थल बना;
दृश्य नूतन और ही मनहर वहाँ ॥२७॥

महत गौरी-पूजनोत्सव-अर्थ तब।
भव्य महिषी-सौध में एकत्रिता,
राज-ललनाएँ उपस्थित हर्षिता;
मग्न आमोदादि में ही तत्र सब ॥२८॥

देवि कौशल्या, सुमित्रा, केकई,
माण्डवी, श्रुतिकीर्ति, सीता, उर्मिला।
मुदमयी वे हँस रहीं सब खिलखिला;
नाचती बन मंथरा दुलहिन नई ॥२९॥

राम-लक्ष्मण-गमन शरमाई सभी;
मंथरा तो मुँह छिपा भीतर भगी।
मुसकुराने मंद सब वधुएँ लगीं;
देखतीं चुप कनखियों घूँघट कभी ॥३०॥

चरण छूते राम किंचित हँस दिये।
ली उन्हें गद्‌गद लगा उर केकई;
हँस कही—"लाई सुघर दुलहिन नई,
देख केकय-देश से तेरे लिये" ॥३१॥

जानकी जाये सकुच सिमटी उधर;
मृदु अधर ही अधर हँसती मन मगन।
राम भी चुप-चुप, छिपा मन में लगन,
देख लेते बार-बार बचा नज़र ॥३२॥

स्थिति न पूछो अन्य वधुओं की तनिक।
हर्ष दिल में ना समाता था अलभ।
स्वर्ग में भी तो कहाँ होता सुलभ ?
भरत-भू का प्रेम यह पारस्परिक !! ३३।।

चाँद भी तब पूर्व दिशि से झाँक कर,
मुसकुरा नभ पर बिखेरा सित सुमन।
हर्ष से खिल-खिल उठा संध्या-वदन,
प्रेम शशि का सहज, निश्छल आँक कर ।।३४।।

देख हास-विलास यह चिड़ियाँ चहक—
मारने उड़कर लगीं किलकारियाँ।
खिल उठीं कुसुमों सहित कल-क्यारियाँ;
अध खिली कोमल गईं कलियाँ महक ।।३५।।

अंक में निज ले सुधाकर को निशा,
कह रही ज्यों मौन प्यार-दुलार से—
'वत्स ! तुमने स्वगुण-किरण हजार से,
धन्य, आलोकित किया आठों दिशा' ।।३६।।

(ललितकेसर वृत्त)

गगन 'चन्द्र' मुग्ध बरसा रहा सुधा।
नखत-रूप धार कर स्वर्ग-देवता;
झिलमिला रहे प्रकट बात ये बता,–
'बिन सनेह जन्म जग सत्य ही मुधा' ।।३७।।

पंचम सर्ग

राष्ट्रीय परिस्थिति एवं विचार-मंथन

(सिन्धु छन्द)

गगन पर राज्य सुखदायक कलानिधि का।
सुयश ही कौमुदी बनकर धरा बिखरा॥
हुआ तन-मन सुधा से सिक्त-सा निशि का।
हृदय पर सिन्धु के उठती रहीं लहरें॥ १ ॥

रही काली न रजनी भी, न तिमिराचर।
समीरण-पुष्प ही निर्विघ्न क्रीड़ा-रत॥
लता-तरु-विटप, अलि, खग-विहग, सचराचर।
सुशासन में सभी सुख-नींद में सोये॥ २ ॥

मचलती चाँदनी मादक, मदिर बनकर।
निशा भी बीत शशि-मग्ना रही आधी॥
अकेली केकई बैठी अटारी पर।
प्रतीक्षा-रत स्वयम् उलझी विचारों में॥ ३ ॥

'अहा ! क्या कौमुदी छिटकी अमिय-सिंचित।
उफन कर छलकती-सी मधुरिमा-गगरी॥
सरसती स्निग्धता, सौरभ-सनी किंचित—
न किस मनको मलय-वाहिनि भिगो देगी॥ ४ ॥

'मिटा तम तो, प्रकाशित भी धरा-अम्बर।
नहीं वातावरण में अब उमसता भी॥
नहीं क्या शेप फिर भी तिमिर धरती पर?
सघन कानन, अजिर-गढ़ में सुरक्षित-सा?॥ ५॥

'फिरें दिन जब, अँधेरा पक्ष जब आये।
क्षपाकर वृद्ध हो जब क्षीण हो जाये॥
समय पाकर न क्या पुनरपि तिमिर छाये?
चराचर-कष्ट कर सत्तांध-सा होकर॥ ६॥

'तिमिर का नाश तो मूलाग्र होगा तब।
प्रखर मार्तण्ड जब कटिबद्ध हो जाये॥
विभव छाये, मिलें जीवन सभी को जब।
उदय सार्थक तभी तो जग प्रभाकर का॥ ७॥

'रहा छा यदपि तीनों लोक में निश्चय।
विशद यश चन्द्रिका-सा विमल स्वामी का॥
उपस्थित पर मनुजता-हित दिखाता भय।
असुर गण शठ उठाने सिर लगे फिर से॥ ८॥

'रही जो मातृरूपा वन्दनीया नित।
सदा जो शक्ति नर की,' विश्व-कल्याणी॥
अपर क्या? सबल जो नारी कभी यमजित।
बनी अबला वही अब मात्र भोग्या ही॥ ९॥

'असुर कुछ पाशविक बल से बने उन्मद।
हरण, व्यभिचार जैसे बात साधारण॥
मिला सब धूल में गौरव, दशा दुःखद।
नहीं कुछ शील की मानो रही कीमत॥ १०॥

'सुना उस दिन कि किष्किधेश उच्छृंखल।
बना उन्मत्त अपने बल-पराक्रम से॥
अनुज का स्वत्व ही छीना नहीं केवल।
लिया निर्लज्ज ने हर अनुज-पत्नी भी॥ ११॥

'वना पौलस्त्य तो भू-भार ही भारी।
दिशाएँ कांपतीं ज्यों नाम से उसके॥
अनय, अघ, दुष्टता-पुतला, दुराचारी।
भला, क्या काम का वल-शौर्य भी ऐसा॥ १२॥

'प्रतापी, तेजशाली, रण-कुशल भी तो।
कई लघु राज्य ही उसने नहीं रौंदे॥
अपितु गंधर्व, सुर हारे सवल भी तो।
सुमति वन, लोक-संरक्षक हुआ होता॥ १३॥

'वना लेकिन कुमति अवतार पशुता का।
कलंक मनुष्यता का, पातकी पामर॥
भयंकर शक्ति, फिर मद राज्य-प्रभुता का।
हुआ पर्याय ही रावण असुरता का॥ १४॥

'अभी उस दिन कुशध्वज ऋषि-सुता पावन।
तपस्या-रत पिता-हित थी अकेली जव—
'सुवेदवती' सुमन-संचय-मगन कानन।
अधम ने शील उसका भंग कर डाला॥ १५॥

'नियत रम्भा व नल-कूवर-मिलन था जव।
लिया पथ रोक उसका शठ नराधम ने॥
'वहू इस समय'-अनुनय-विनय सुनता कव?
वलात् किया शिला पर मान-मर्दन हा!! १६॥

'सुना यह भी कि ब्रह्मा के निकट जाती।
न छोड़ा दुष्ट ने उस 'पुंजिकस्थल' को॥
रही असहाय-सी वह निवल विललाती।
रहे मन मार ब्रह्मा श्राप देकर ही॥ १७॥

'नगर भोगावती पर आक्रमण करके।
पराभव वासुकी का ना किया केवल॥
वरन् वर नाग-जन-वल का दलन करके।
किया तक्षक-प्रिया का भी हरण खल ने॥ १८॥

'नहीं उस नीच को तो नीति का वन्धन।
न मर्यादा, न लज्जा ही, न मानवता ॥
पिघलता उर न उसका सुन करुण-क्रन्दन।
मनुजता-दनुजता में और क्या अन्तर ॥ १९ ॥

'जहाँ सुन्दर विवाहित या कि कन्या ही—
दिखी, चाहा हरण करना प्रवंचक ने ॥
वची आ दृष्टि में उसके न दैत्या ही।
न गन्धर्वी, न देवी, किन्नरी, यक्षी ॥ २० ॥

'किया जव दिग्विजय आतंक ही छाया।
वहा भी रुधिर, देश-विदेश से कितनी—
कुसुम-सी रमणियाँ भी कर हरण लाया।
नृशंस पिशाच-हित खिलवाड़ ज्यों 'नारी' ॥ २१ ॥

'हुई गंभीर, विचलित, क्रोध से कम्पित।
उभरते उर-विदारक इन विचारों से ॥
'न ये दुर्गा वनी क्यों स्वयम् रक्षा-हित।
प्रलय ही क्यों नहीं जग में मचा डाला ॥ २२ ॥

अरे, नारी सदा क्या दीन अवला ही ?
कि कुत्सित वासना की पूर्ति का साधन ?
पुरुष-अन्याय-सम्मुख मूक सरला ही ?
नहीं व्यक्तित्व उसका कुछ, न गौरव कुछ ॥ २३ ॥

'भला, कर क्या न सकती नारि, कर निश्चय।
सतीत्व-चरित्र-वल से, शक्ति से निज की ॥
कभी था दिनप का होने दिया न उदय।
कि भस्मीभूत कर सकती धरा-मण्डल ॥ २४ ॥

'नहीं उत्पात सीमित क्षेत्र तक उनके।
पड़ोसी राज्य भी तो त्रस्त, आतंकित ॥
वने दानव मनुजता-हित सदृश घुन के।
उपस्थित 'शांति'-हित ही घोर संकट अव ॥ २५ ॥

'यदपि भू-भाग शासन में निरापद सब—
अयोध्याधीन, प्रियतम-छत्रछाया में ॥
पड़ोसी राष्ट्र में हों पर उपद्रव जब।
उचित क्या बैठना कर पर धरे कर को ॥ २६ ॥

पड़ोसी ही नहीं, शुचि आर्य-धरती तक।
रहे घुसपैठ करते आततायी वे ॥
किन्ही के ध्वंस करते यज्ञ ही नाहक।
किन्हीं के व्यर्थ में ही प्राण हर लेते ॥ २७ ॥

'उठा पशुधन लिये जाते किसी का भी।
फसल ही काट लेते, घर जला देते ॥
त्रसित रहती बिचारी दीन जनता भी।
खलों का इन लगा आतंक छाने अब ॥ २८ ॥

'दशा भी देश की कुछ तो निराली ही।
बँटा छोटे-बड़े कितने स्व-राज्यों में ॥
निबल कुछ राज्य, कुछ में दर्प खाली ही।
सबल जो आर्यनृप, वे मग्न अपने में ॥ २९ ॥

'कहीं ऐसी दशा में इन-उठाती सिर—
असुर साम्राज्यवादी शक्तियों से घिर,
बने न शिकार कुछ भू-भाग ही, या फिर—
समूचा देश ही न असावधानी में ॥ ३० ॥

'इधर दुर्लक्ष्य स्वामी का न जाने क्यों?
सुरक्षा देश की कर्तव्य पहला नित ॥
न होवे सह्य सीमा पर उपद्रव यों।
ढसल विश्वास जायेगा प्रजा-मन का ॥ ३१ ॥

'तभी तो आन्तरिक सुख-शान्ति रह सकती।
सुरक्षित बाह्य रिपु से जब रहे सीमा ॥
महत्व सुसैन्य-शक्ति अवश्य ही रखती।
सजगता भी न कम कुछ किन्तु आवश्यक ॥ ३२ ॥

'रहे वन नाथ 'शान्तिप्रिय' दिनों से कुछ।
क्षमा की भावना जाती उभरती मन ॥
नहीं कम शक्ति इनकी उन खलों से कुछ।
सहन क्यों मूंद करते आँख फिर ये सब ?? ३३ ॥

'किसी पर आक्रमण चाहें न करना हम।
न तो साम्राज्य के विस्तार के लोभी ॥
न नर-संहार-इच्छुक; पर न हों विभ्रम—
तनिक भी तो प्रजा-सीमा-सुरक्षा में ॥ ३४ ॥

'सहन अन्याय करना पाप, रहना चुप—
बढ़ाना हौसला ही अनयकारी का ॥
हमारी ओर बढ़ते हाथ जो लोलुप।
कुचल डालें उन्हें, कर्तव्य समुचित यह ॥ ३५ ॥

'रही स्थिर शान्ति भी जग में विना बल के ?
कभी क्या शांति के ही गीत गाने से ?
बने कब साधु नय से शीर्ष छल-बल के ?
निरामिष हिंस्र पशु संगीत के स्वर से ?? ३६ ॥

'न रहती शांति हो यदि भावना डर की।
न तो रहती अहिंसा के सहारे ही ॥
सदा असि-धार पर, खर नोक पर शर की।
रहा करता सुरम्य निवास उसका तो ॥ ३७ ॥

'दया कहती कि भाई सर्व ही मानव।
समझती पाशविकता किन्तु कायरता ॥
क्षमा से या नहीं औदार्य से दानव।
वरन् प्रतिशोध से ही वश किये जाते ॥ ३८ ॥

'भले हों व्यक्ति-शोभा त्याग, करुणा, तप।
अहिंसा-धर्म, उर की स्पृह्य कोमलता ॥
समष्टि-हितार्थ वांछित तेज, बल, आतप।
उबलते रक्त से हों धमनियाँ फटती ॥ ३९ ॥

'श्रवण गजराज की चिंघाड़ कानन में।
न रहता सुप्त कुछ वनराज गह्वर में॥
न मन में स्वाभिमान रहा, न बल तन में।
वही अपमान सह सकता अमित्रों से॥ ४० ॥

'प्रकट उत्पात सीमा पर हमारी जो—
हुआ करते, न आकस्मिक घटित घटना॥
कदाचित् शक्ति को ही तौलता अरि हो।
पुरानी शत्रुता का शोध लेने को॥ ४१ ॥

'तिमिध्वज-वध किया प्राणेश ने जिस दिन।
सुलगती वह्नि दनुजों-उर तभी से हों॥
पुनः गाधेय-संग जा राम ने अनगिन।
किया विध्वंसकारी दानवों का वध॥ ४२ ॥

'असुर-सम्राट रावण का हुआ तिस पर।
प्रकट अपमान सीता के स्वयंवर में॥
दनुज उपयुक्त होंगे खोजते अवसर।
पता न विपत्ति कब सिर राष्ट्र के छाये॥ ४३ ॥

'उचित, उपचार करना समय रहते ही।
सजग नीतिज्ञ को यों बदलती स्थिति से—
न रहना चाहिए कुछ आँख मूँदे ही।
समझना चाहिए न अशक्त ही रिपु को॥ ४४ ॥

'विचारी मूक सीमा की प्रजा रहती—
अधम आक्रामकों से भीत, शंकित॥
कहें कैसे हमारे राज्य में बहती।
हवा सुख-शान्ति की निर्बाध फिर चहुँ दिशि॥ ४५ ॥

'भुलावे में, मिली अब तक विजय के रह।
हुए निश्चिंत जाते आर्य-शासकगण॥
निरन्तर कर रहा पर शक्ति-संचय वह।
नये दिव्यास्त्र भी तो खोजता जाता॥ ४६ ॥

'दया, करुणा, क्षमा, बन्धुत्व की बातें।
नहीं क्या सिद्ध होंगी आत्म-घातक ही ?
न द्विजता से, वणिकता से न अरि-घातें।
सुलझती नित उबलते क्षात्र-शोणित से ॥ ४७ ॥

'अवांछित तत्व पर की जो, दया अनुचित।
गरल ही उगलता पय पी फणीश्वर नित ॥
स्त्रियों को देख अपमानित, दलित, पीड़ित।
नहीं जो जल उठे, पुरुषत्व ही क्या वह ॥ ४८ ॥

'कहीं यह प्रश्न उठ सकता, न क्यों उनको—
बना लें मित्र कोई 'सन्धि' ही करके ॥
'जिओ खुद और जीने दो इतर जन को'।
न कोई अर्थ रखते पास दुष्टों के ॥ ४६ ॥

'बड़ी-छोटी असुर-खल-शक्तियों को ले।
अशक्य न, ताक में हों आक्रमण के वह ॥
प्रथम इसके कि डसने फन भुजग खोले।
उचित यह, कुचल दें मुख गरलमय उसका ॥ ५० ॥

'करूँ तब क्यों न अभिजित राम को प्रेरित ?
दबाने इन उभरते राक्षसों को फिर ॥
अपरिमित शक्ति-बल उसमें निहित निश्चित।
कुचल सकता असुर-खल-शक्तियों को वह ॥ ५१ ॥

'छिपी इस शक्ति को पहचान उसकी तब।
गए ले संग ऋषिवर यज्ञ-रक्षा-मिस ॥
निपट बालक, पिता के नेत्र तारे जब।
अनेकों शक्तिशाली असुर संहारे ॥ ५२ ॥

'नराधिप किन्तु लेंगे मान भी क्या अब ?
पठाने दानवों से जूझने उसको—
स्वयम् होकर ? महाऋषि-कोप-भय था तब।
विमन ही क्यों न हो, 'ना' कर न सकते थे ॥ ५३ ॥

'अभी बालक पिता-हित, मोल क्यों ले लें—
विपत्ति स्वतः बुलाकर' शक्य, सोचें नृप ॥
मनुज ने संकटों से पर बिना खेले।
किया कब कौन-सा उपकार धरती का ! ! ५४ ॥

'न देखें मोहवश इस शक्ति को प्रियतम !
पड़े करना कदाचित कार्य मुझको यह ॥
सदा नारी रही नर-शक्ति का उद्गम।
सके कर नर न उसकी प्रेरणा से क्या ? ? ५५ ॥

'असुरगण संगठित हों अगर, तो भी क्या ?
भयित करि-यूथ से भी सिंह-शावक कब ?
पुरुष वह श्रेष्ठ जग, सार्थक सफल ही क्या ?
सबल हो कर सके जो कर न जन-रक्षण ! ! ५६ ॥

'प्रभासित सिर्फ नभ को ही नहीं करता।
मिटाता तम दिवाकर तो धरा का भी ॥
दुसह ग्रीष्माग्नि से जब भू-हृदय जरता।
बरसते क्या न नीरद गर्जना करते ? ? ५७ ॥

'नहीं कुछ व्यक्तिगत भी बैर उनसे मन।
परस्पर राज्य के केवल न झगड़े भी ॥
वरन् नर-भक्षकों से त्रस्त जन-जीवन।
उपस्थित प्रश्न मानवता व पशुता का ॥ ५८ ॥

'स्वयम् स्त्री में, स्वभावतया हृदय निश्छल।
नयत्व, सहिष्णुता, धृति, धर्म ही मेरे ॥
समय पर शोभतीं पर वृत्तियाँ कोमल।
खलों हित चाहिए अंगार उगले दृग' ॥ ५९ ॥

गया हो दीप्त उसका वदन कंचन-सा।
हृदयगत वह्नि में तपकर विचारों की ॥
सुधामय चाँदनी की प्रिय-मिलन-मनसा।
सकल बिसरी, रहा भान न समय का भी ॥ ६० ॥

(भद्रिका वृत्त)

दीप्त विश्व-हित भद्रिका।
स्निग्ध, शीतल सुधामयी—
'चन्द्र' की सरस चन्द्रिका।
यामिनी मचलती रही ॥६१॥२०७॥

षष्ठ सर्ग

राज्याभिषेक—निर्णय व तैयारी

(रूपमाला या मदन छन्द)

इन्दु नभ जगता रहा सानन्द सारी रात।
मदन-मोहन अरुण का अभिषेक होगा प्रात॥
झिलमिलातीं रूपमाला तारिकाएँ मौन।
बाल का उत्कर्ष लख प्रमुदित न होगा कौन?१॥

क्षितिज-सिंहासन सजा अम्बर-सभा के कूल।
ललित प्राची ने सँवारा अंग लाल दुकूल॥
रजत-मण्डप पर कनक-झालर रही नव झूल।
टूक बादल के खड़े कर जोड़ चारण-तूल॥२॥

दी खगों ने बात पहुँचा तुरत कानों-कान।
खिल उठा धरणी-हृदय सुन कोकिला की तान॥
अश्रु-बूँदें चू पड़ीं शुचि सुमन-पलकों-तीर।
पुष्प-मालाएँ सजाईं वाटिकाएँ धीर॥३॥

दूर नभ में एक लघु घन-खण्ड बिखरा श्याम।
पूर्व दिशि को वायु-परिचालित बढ़ा अविराम॥
बाल रवि आ भी न पाया क्षितिज-आसन-पास।
निमिष में प्रच्छन्न-सा होने लगा आकाश॥४॥

कुछ समय को व्योम पर यदि छा गए वे अभ्र।
प्रस्फुटित आभा पुन:, मनहर दिनेश निरभ्र ।।
भूमि तक क्रमशः गया प्रिय फैल नव आलोक।
हो गए प्रमुदित पुहुप, नग, कोकनद, खग, कोक ।।५।।

करवटें लेते रहे नृप कल्पना में रात।
निरख अरुणोदय उठे मन मुदित, पुलकित गात ।।
उपजते हर रश्मि से मन में नवीन विचार।
'स्वप्न वह रंगीन होगा शीघ्र ही साकार ।।६।।

'पौर की भी राय पर लेना अभी तो शेष।
कौन वैसे बन सके युवराज या कि नरेश ?'
अष्ट-मंत्री सह बुलाया मन लिये शुभ आस।
जानपद औ' पौर संयुक्ताधिवेशन खास ।।७।।

सब सभासद ले चुके जब स्थान धीर-अधीर।
नृपति बोले स्निग्ध, राजोचित गिरा गंभीर—
"सज्जनो ! सबको विदित, रहती रही किस भाँति।
सूर्यकुल, इक्ष्वाकुवंशी राज्य में नित शांति ।।८।।

"पूर्वजों की कीर्ति का मैंने रखा नित ध्यान।
ध्येय मेरा भी रहा नित ही प्रजा-कल्याण ।।
कठिन यद्यपि वहन करना राज्य का गुरु-भार।
आपके सहयोग का पर नित रहा आधार ।।९।।

"वृद्ध मैं अब हो चला, तन चाहता विश्राम।
देश-रथ-सारथ्य गुरुतर, अब सँभालें राम ।।
सर्वगुण-सम्पन्न वह, बलवीर ज्यों सुर-राय।
योग्य जन-पालक रहेगा, आपकी क्या राय ।।१०।।

"प्रिय मुझे अत्यन्त वह, सर्वत्र विदित अनुक्त।
किन्तु सोचें आप, यह उपयुक्त या कि अयुक्त ।।
सर्व-हित में यह लगे प्रस्ताव जो प्रतिकूल।
तो सुझायें बिन झिझक, मन्तव्य निज अनुकूल" ।।११।।

हो गए सुनकर उपस्थित सब प्रसन्न सदस्य।
एक मत सब ने कहा—"निश्चय विचार प्रशस्य।।
सत्यवादी, सत्पुरुष, सत्क्षत्र, सत्य-प्रतिज्ञ।
सत्य-प्रिय, श्रीराम सब शस्त्रास्त्र-चालन-भिज्ञ।।१२।।

"सहनशील, सुदूर-दर्शी, मधुर-भाषी, वीर।
शांत, सर्वप्रिय, जितेन्द्रिय, शीलवान, गँभीर।।
जन-हितैषी, वर धनुर्धर, विज्ञ, राम वदान्य।
आपका प्रस्ताव शुभ यह, हम सभी को मान्य" ।।१३।।

श्रवण कर आत्मज-प्रशंसा, सुखद, कुल-अनुरूप।
सर्व मत से तय किया फिर मुदित मन अति भूप।।
'खिल रहे उपवन सुमन, वन-सदन फल-अतिरेक।
चैत्र यह, हो पुष्य शुभ नक्षत्र में अभिषेक' ।।१४।।

हर्ष में पूरी तरह नृप खो गए उस काल।
चारणों को कर दिया दे मुक्त दान निहाल।।
सामने जो भी मिला याचक, बना धनपाल।
खुल गए पट कोष के, निरुपम धनद भूपाल।।१५।।

फिर किया अवगत सचिव को परिषदस्य विचार।
"उचित आयोजन करे वह अवध-यश-अनुसार।।
भेज दें सबको निमंत्रण, अमरपति भी आयें।
वृत्त पर केकय नगर को देर से भिजवायें।।१६।।

"मुग्ध हो सुरराज भी, ऐसा सजे दरबार।
लख लजाये आसमान वितान का विस्तार।
रंग-बिरंगे यों फबें ध्वज, खंभ, बन्दनवार।
आ गया हो भूमि पर, ज्यों इन्द्र-धनु साकार।।१७।।

"दीप इतने जल उठें घर-घर यहाँ सर्वत्र।
हों न जितने टिमटिमाते व्योम में नक्षत्र।।
अवधपुर यों जगमगाये, अमित हो आलोक।।
आ रहे भू-लोक पर, सुरलोक भी अवलोक।।१८।।

"यह रहे पर ध्यान—छोटी राजरानी-पास।
लें न जाये वृत्त कोई क्षुद्र दासी-दास॥
हम स्वयम् जाकर कभी उनके रुचिर प्रासाद।
दे अचानक वृत्त शुभ, देंगे उन्हें आल्हाद" ॥१६॥

इधर जब तक सचिव को पाये न दे आदेश।
वृत्त कौशल्या-भवन पहुँचा, लगा न निमेष॥
क्या बता वाणी सके माँ के हृदय का हाल।
सुन विसुध-सी हो गई तन्मय, निहाल-निहाल॥२०॥

स्मरण कर पति-चरण का, हो मगन मन, साभार।
राम के हित ईश-वन्दन कर अनेक प्रकार॥
दान कर दी कनक-मणि-मुक्ता-रजत-अम्बार।
वह न हारी दान से, याचक गए खुद हार॥२१॥

'राजमहिषी राज-माता अब बनेगी शीघ्र।
जानकी भी राजरानी बन फबेगी शीघ्र॥
इन्द्र-सा दरबार में होगा सुशोभित राम।
कीर्तिमय होगा जगत्-विख्यात उसका नाम' ॥२२॥

विकच, पुलकित रोम-रोम विशेष हर्ष-विभोर॥
नित्य से कुछ भिन्न वह अनुपम सुहाना भोर॥
रवि-कलश कर ले खड़ी ऊषा सहित मुसकान।
गा रही हर डाल पर श्यामा सुमंगल गान॥२३॥

जब सुमित्रा ने सुना यह मोदमय संवाद।
खिल उठा मुख-कंज आनन्द-वीचि में साह्लाद॥
स्नेह-सिंचित हो गए मनहर सजल दृग-मीन।
राम-रवि-प्रतिबिम्ब विकसित मन-सरोवर-लीन॥२४॥

जानकी-उर में समाता ही नहीं तब हर्ष।
जलधि उठता ज्वार लख राकेन्दु का उत्कर्ष॥
नूतनालोकित हुआ-सा प्रात उसके सद्म।
प्रभु-दिनप-स्मृति-मात्र से मुकुलित हुआ उर-पद्म॥२५॥

पग धरा टिकता नहीं ज्यों, छुमछुमाया गेह।
विज्ञ वैदेही हुई उस समय स्वयम् विदेह॥
मूंद दृग करने लगी मन विनय—"हो भगवान ?
उत्तरोत्तर आर्य्यपुत्र महान का उत्थान" ॥२६॥

उर्मिला, श्रुतिकीर्ति ने सुन मोदमय वृत्तांत।
खो दिया निज भान ही मानों प्रफुल्ल नितांत॥
दुलहिनों की क्या, उठे सब नाच दासी-दास।
बन गया उल्लास का आवास ही रनवास ॥२७॥

और लक्ष्मण ? कुछ न पूछो उस सु-मन की बात।
राम के प्रति भाव उनके विश्व में विख्यात॥
सहज उनके झलकने अँग-अँग लगा उल्लास।
बिसुध-से दौड़े गए वह त्वरित अग्रज-पास ॥२८॥

राम कुछ गम्भीर यद्यपि, पर न तनिक उदास।
वदन विलसित हो रहा निरुपम छटा का लास॥
विहँस कर बोले तभी पाकर अनुज को पास।
शब्द क्या, मानों रहे वे अमिय के आवास ॥२९॥

"कर रही प्रिय भरत की, अस्थिर मुझे अति याद।
क्यों न हो अभिषेक उसके लौटने के बाद ?
कर रहे यों क्यों पिताजी शीघ्रता अत्यन्त ?
क्यों नहीं उसको बुला भेजें,-पतान,-तुरन्त ॥३०॥

"साथ हम घुटनों चले, खेले सभी हम साथ।
साथ रहते सुख व दुख झेले सभी हम साथ॥
नित्य साथ पढ़े, बढ़े; आनन्दमय इस प्रात—
क्यों न अनुपस्थिति भला, उसकी खलेगी भ्रात ! ! ॥३१॥

मुग्ध लक्ष्मण वचन सुन मृदु, अमिय-रस से युक्त।
अनबिंधे मोती युगल छलके कमलदल-मुक्त॥
"सहचरों का, अनुचरों का पूर्ण रखते ध्यान।
कौन आर्य-समान विश्व महान गरिमावान ! ! ३२॥

"आपका उर प्रेम-रसमय-वीचिमाली तात।
गहन, शांत, अथाह, निर्मल, लहरता दिन-रात॥
आर्य्य-हित कल्लोल-रत इन लोल-लोल-विलोल।
देखिये जन-उर-तरंगित वीचियाँ अनमोल" ॥३३॥

राम ने लक्ष्मण-सहित चल मन्द गति सानन्द।
जा अटा देखी छटा बिखरी अनिंद्य अमन्द॥
'चढ़ चुके कुछ नभ दिवाकर, वदन निखरी कांति।
ताम्र किरणें हो गई कंचन-रजत की भाँति॥३४॥

'चहकते, गाते, फुदकते, खग-विहग अभ्यस्त।
हो गए निज नीड़ सर्व सँवारने में व्यस्त॥
वृक्ष फहरायें, ध्वजायें वल्लि वन्दनवार।
समुद करतीं विहगिनी भी गान मँगलाचार॥३५॥

'सुघर अष्टापद नगर वर द्यूत-फलक समान।
भाग्य पर इठला रहा ज्यों, कर रहा अभिमान॥
नील-मणि-सा मध्य में शोभित जड़ा प्रासाद।
लाल पन्ने-सी चतुर्दिशि बीथियाँ साह्लाद॥३६॥

'मगन-सा कोई रहा घर पर चँदोवा तान।
मयन-सी कोई बनाता राम-मूर्ति महान॥
खंभ कदली के कहीं पर लग रहे आमूल।
महकते सुरभित कहीं पर रँग-बिरंगे फूल॥३७॥

'घर सजाने में कहीं कोई हुआ तल्लीन।
या बनाने में लगा आँगन कहीं रंगीन॥
चौक ड्योढ़ी पर पुराये, द्वार वन्दनवार।
भित्तियों पर चित्र काढ़े भिन्न-भिन्न प्रकार॥३८॥

'राज-पथ कोई बनाये द्वार धनुषाकार।
सप्त रंगों से रहा कोई सँवार-निखार॥
कर रहीं उन पर परस्पर वर लता परिरंभ।
बन रहे अति भव्य दोनों ओर दीपस्तंभ॥३९॥

'मार्ग के दोनों किनारों अंग-रक्षक-भाँति।
नवल कोई फूल-गमलों की जमाता पाँति ।।
व्यस्त सब, मुख पर झलकते स्नेह-पूरित भाव।
अगर-चन्दन-युक्त जल का हो रहा छिड़काव ।।४०।।

'मोहिनी, राकेन्दु-वदनी, नयन ज्यों जल-जात।
हंसिनी, गज-गामिनी, कल-कंठिनी, मृदुगात ।।
गुनगुनातीं गीत करतीं पैंजनी-झनकार।
दामिनी, उद्दामिनी, मन-हारिणी सुकुमार ।।४१।।

देख जनता-उर उमड़ता शुद्ध प्रेमानन्द।
सिक्त अँखियाँ हो गईं निर्बोल रघुकुल-चन्द ।।
छा गया मस्तिष्क-मन-प्रेमाश्रु में वह दृश्य ।।
भान तन का भी रहा न, रहे ठगे-से वश्य ।।४२।।

द्वार पहुँचा रथ तभी, उतरे सुमंत्र सहास।
नम्र अभिवादन किया फिर राम को जा पास ।।
"भूप तुमको याद करते" सुन यथा सन्देश।
नत छुए जा तात-पद, रघुवंश-पद्म-दिनेश ।।४३।।

हृदय से नृप ने लगाया,—वह पिता-सुत भेंट !
नील-मणि-गिरि को लिया रवि ने समूल समेट !!
फिर दिया मणि-जटित आसन पुलक निरख निमेष।
राम उद्भासित हुए, नक्षत्र मध्य निशेष ।।४४।।

"वत्स ! हो तुम धन्य, हर्ष न मन समाता आज।
सफल होंगे दृग तुम्हें अब देखकर युवराज ।।
विनयशील, सुशील हो, तुम सर्व गुण-सम्पन्न।
जो किया तुमने प्रजा को स्वगुण सहज प्रसन्न ।।४५।।

"पर न होवे राज्य पा तुमको कदापि प्रमाद।
स्नेहवश ये कथित रखना महत बातें याद ।।
नित प्रजा ही राज्य की आधार, मुख्य स्तम्भ।
पुत्र-सम पालन सदा करना, न करना दम्भ ।।४६।।

"काम, मत्सर, क्रोध तज, रखना प्रजा का ध्यान।
अनिप, मंत्री आदि को भी उचित देना मान॥
भेद जान परोक्ष औ' प्रत्यक्ष, करना न्याय।
हो भरे भण्डार, शस्त्रागार, समुचित न्याय॥४७॥

"इन दिनों अस्थिर बहुत मन, शीघ्र हो अभिषेक।
विघ्न हो कोई नहीं, भगवान रख ले टेक॥
सुहृद-रक्षित, संयमित, सम्प्रति रहो आवास।
सुमन-सुरभित-पास रहता नित्य कण्टक-वास॥४८॥

"भरत जब तक मग्न आमोदादि में ननिहाल।
श्रेयकर, होवे तुम्हारा तिलक अब तत्काल॥
धर्म-रत, श्रद्धालु यद्यपि सर्व राज्य सदस्य।
सत्पुरुष-मन भी कभी पर राग-ईर्षा-वश्य" ॥४९॥

यों पिता का चल रहा जब पुत्र को उपदेश।
निरख कैकेयी रही तब दृश्य चारु विशेष॥
कनक बरसाते हुए ढलने लगे रश्म्येश।
अवध नगरी नवल दुलहिन का किये परिवेश॥५०॥

(कन्द वृत्त)

'मनोमुग्धकारी दिखाती छटा भव्य।
बना क्यों रहे यों इसे ये वधू नव्य?
भला, कौनसा 'चन्द्र' ऐसा महापर्व?
समाती न आनन्द में जो प्रजा सर्व'??५१॥

सप्तम सर्ग

कैकेयी - मंथरा - संवाद

(प्लवंगम व तिलोकी संयुक्त चान्द्रायण छन्द)

दिनकर दिन भर राज्य, भोग अब जा रहे।
मंथर यान प्लवंग समान बढ़ा रहे॥
छाया सुयश तिलोक, गगन रक्तिम हुआ।
चान्द्रायण के निकट, गुलाल उड़ा रहे॥ १ ॥

कंचन-कलश-समान, गिरि-शिखर जगमगे।
डोले मृदुगति व्यस्त, पवन सौरभ-पगे॥
वृक्ष-वृक्ष पर फुदक-फुदक कर चहकते।
पंछी हर्ष-विभोर, शोर करने लगे॥ २ ॥

कलित कोकिला कूक, रही कल-कंठिनी।
भ्रमरी भ्रमिता थिरक रही उन्मद बनी॥
संध्या विस्मित निरख रही उल्लास ये।
प्रकृति मुदित, सर शांत, सरित कल्लोलिनी॥ ३ ॥

मनहर संध्या-रूप-छटा अम्बर-धरा।
अवधपुरी-परिवेश, नया विस्मय-भरा॥
कैकेयी अवलोक रही जब मुग्ध-सी।
पहुँची मत्सर-बुद्धि, खिन्न मन मंथरा॥ ४ ॥

"मदिर प्रकृति-शृंगार, मधुर मधुमास री।
जन-जन के मन उमड़ रहा उल्लास री" ॥
रानी का यों प्रश्न सहज—"फिर बात क्या?
जो तू दिखती विमन, विपन्न, उदास री?" ॥ ५ ॥

पर वह बिलकुल मौन, दीर्घ निःश्वास ले।
देख निमिष भर दृष्टि, उदास-निराश ले॥
कहने को कुछ ओंठ हिला, फिर चुप रहे।
कुटिल इसी क्रम पुनः पुनः उच्छ्वास ले॥ ६ ॥

रानी हुई सशंक,—"तनिक कह भी अरी!
पलकों में क्यों नीर-भरी गगरी धरी?"
पुनरपि ले निःश्वास, रही वह मौन ज्यों—
तकती कातर दृष्टि, सभीत कबूतरी॥ ७ ॥

"हैं तो सब कुछ कुशल-क्षेम परिवार में?
घिरी अचानक तो न, विपद के ज्वार में?
या तेरा अपमान, किसी जन ने किया?
डूबी जो जा रही, व्यथा-मँझधार में"?? ८ ॥

"तव छाया में नित्य, कुशल मेरी निहित।
बनी रहे यों कृपा, आपकी देवि! नित॥
करे कौन अपमान तुम्हारे राज्य में?
मैं तो तव भवितव्य-हेतु चिंतित, भयित" ॥ ९ ॥

रानी को अब तो न, तनिक धीरज रहा।
अस्थिर-मन, अति व्यग्र, सभय, झुँझला कहा—
"कहती क्यों न तुरन्त हुआ क्या कूबरे!
जो तू ने यों दीर्घ-श्वास-अंचल गहा??१०॥

"सकुशल तो हैं राम, सुयश जिनका मही?
हुआ नहीं कुछ महाराज को तो कहीं?
भरत, शत्रुहन, लषण स्वस्थ, सानन्द तो?
कोई घटना घटी, अमंगल तो नहीं? ११॥

"सुखी प्रजा तो है न, प्रकृत ममता मयी ?
पड़ी राज्य पर तो न, विपद कोई नयी ?
असुरों ने उत्पात, नया क्या कुछ किया ?"
प्रश्न वीस यों एक साँस में कह गयी ॥१२॥

सह उँसास मौनास्त्र, चला उसका प्रथम ।
मुख पर प्रकट विषाद, गई वह ज्यों सहम ॥
निकले रुक-रुक शव्द, तनिक अस्पष्ट-से ।
"तव-हित कहीं अदृश्य, फला विष-फल विषम ॥१३॥

"कुशल राम-अतिरिक्त, अवधपुर कौन अव ?
सिमटा सारा हर्ष, सौत के भौन अव ॥
हाँ, सानुज सानन्द, भरत ननिहाल हों ।
वदा भाग्य में किन्तु, तुम्हारे मौन अव ॥१४॥

"सुखी प्रजा भी, सुखी नृपति, कण-कण तरल ।
अपनी आँखों दृश्य, न क्यों देखो सकल ॥
पटरानी-अनुकूल, विधाता इन दिनों ।
होंगे राजकुमार राम, युवराज कल" ॥१५॥

सुन, चिंतायुत वदन, सुमन-दल-सम खिला ।
मुरझाते विटप को, अमिय मय जल मिला ॥
दासी को उपहार, हार अपना दिया ।
आपा भूली, मगन हँसी फिर खिल खिला ॥१६॥

"हुआ अलक्ष्य अनिष्ट कहीं, अनुमान री ।
इतनी डरी कि निकल गए ये प्राण री ॥
कितनी देखो धूर्त्त, वनी गम्भीर है ।
सचमुच वड़ी शरीर, ढीठ, शैतान री ??१७॥

"कर दूँ इस संवाद-हेतु वलिहार क्या ?
अरी रही मम ओर, विमूढ़ निहार क्या ?
मेरी अच्छी सखी ! रहूँ तेरी ऋणी ।
कह तू ही दूँ और, तुझे उपहार क्या ?" ॥१८॥

अनपेक्षित यह देख, चकित वह हो गई।
दृग अपलक, पर दृष्टि, शून्य में खो गई॥
अस्फुट मुख से शब्द, निकल सहसा पड़े।
"भोलेपन की हाय, यहाँ हद हो गई!!१९॥

"सर्वनाश का जहाँ, जुटा सामान हो।
अचरज, फिर भी वहाँ, उछाह महान हो॥
हित-अनहित समझे न स्वयम् का कुछ, दई!
इतनी क्यों तुम देवि! अभी नादान हो!"॥२०॥

'हित-अनहित या सर्वनाश!' क्या कह रही?
बेटे का उत्कर्ष, विषय सुख का नहीं?
कर क्यों रही विषाद, हर्ष के समय तू?
बता स्पष्ट, यों बुझा पहेली क्यों रही?"॥२१॥

"नृप कुल में उत्पन्न, नृपति-हृदयेश्वरी।
राज-काज में, रणक्षेत्र में सहचरी॥
किन्तु न समझी राज-धर्म की उग्रता।
तनिक न जानी राजनीति छल से भरी॥२२॥

"नृप के मीठे वचन, प्रणय, प्रेमाभिनय।
लाड़-प्यार, मनुहार, रूठने पर विनय॥
इनमें भोली! भूल रहीं तुम तो सतत।
इसको ही बस समझ लिया अपनी विजय॥२३॥

'पर राजा का असत् ख्याल जानी नहीं।
राजनीति-शतरंज-चाल जानी नहीं॥
बनी योजना अंधकार में रख तुम्हें।
होगा अब क्या भरत-हाल जानी नहीं" ॥२४॥

अरुण हुए दृग, बंक-दृगों के बीच भ्रू।
"आखिर ठहरी चेरि, कूबरी, नीच तू॥
फिर जो ऐसे कुटिल वचन तूने कहे।
घरफोड़ी! कलमुँही! जीभ ही खींच लूँ॥२५॥

"मिले ज्येष्ठ को राज्य, अनीति न, नीति नित।
छोटे को शुचि प्यार, सूर्य कुल-रीति नित॥
राम-भरत में भेद, नहीं मुझको तनिक।
जीजी की तो अधिक, भरत पर प्रीति नित॥२६॥

"माँही भरत-समान, राम जाने मुझे।
निज जननी से अधिक, नित्य माने मुझे॥
जन-जन का प्रिय, सुहृद, गुणाकर वह सदय।
शठ! विषाद क्यों तिलक-समय उसके तुझे?" ॥२७॥

"चेरी खाती नमक, तुम्हारा मैं रही।
रह न सकी चुप देख अहित," निष्प्रभ कही॥
"सचमुच क्या अधिकार मुझे जो कुछ कहूँ।
खोटा मुआ स्वभाव, जले यह मुँह कहीं!!" ॥२८॥

किये मंत्र-सा काम, शब्द ये परिगणित।
'देव न जाने पुरुष-भाग्य, तिरिया-चरित'॥
रानी ने हो शांत, प्रश्न पूछा सरल।
"इस सुख-बेला भला, कहाँ? कैसा अहित?" ॥२९॥

"एक बार कह पूर्ण हुई मम आस सब।
कहने की कुछ और न मन अभिलाष अब॥
'घरफोड़ी', 'कलमुँही', बनी मैं मुँहजली।
क्योंकर होवे सत्य-कथन-उल्लास तब!!" ॥३०॥

अब रानी का पूर्ण, गया पारा उतर।
फँसी मनों वह नाद-मुग्ध हरिणी सुघर॥
साग्रह पुनरपि उसे, लगी वह पूछने।
'ननुनच' के उपरांत, हुई कुब्जा मुखर॥३१॥

"जननी के सम राम, तुम्हें जो मानते।
दिन बीते वह देवि! सभी यह जानते—
कि अंचलाश्रित दीप जला देता कभी।
समय फिरे पर वर, स्वजन भी ठानते॥३२॥

"उचित, मिले जो राज्य, ज्येष्ठ गुणधाम को।
पर उस पर अधिकार, भरत अभिराम को।।
तनिक न उठता प्रश्न, लषण-शत्रुघ्न का।
राज्य-भोग में भीति, भरत से राम को।।३३।।

"चतुर, प्रजा-प्रिय राम, परिस्थिति-भिज्ञ भी।
सुदूर-दर्शी, कुशल राजनीतिज्ञ भी।।
सो मैं भरत-भविष्य-हेतु चिंतित सदा।
तुम हो सरल-स्वभाव, कपट-अनभिज्ञ भी" ।।३४।।

"पुरुषोत्तम, गुण-खानि, राम रघुकुल-तिलक।
अरी बावरी! आज, रही क्यों यों बहक?
पाये यदि वह राज्य, भरत पाया समझ।
गुण-गाहक वह ज्येष्ठ, उचित उसका तिलक" ।।३५।।

"यह विचार तव देवि! त्याज्य, बेकाम का।
क्यों न तुम्हें हो भान, निठुर परिणाम का।।
सुख-हत निश्चित, दलित राज्य-वंचित भरत।
सर्वनाश तव, तिलक हुआ जो राम का।।३६।।

"कितनी क्यों न उदात्त, सौत पर सौत ही।
कलुष रहे न, अशक्य, भले मन धौत ही।।
तुम पर प्रेम विशेष, विलोक नरेश का।
माँगी यह तव राम-अम्बकृत मौत ही।।३७।।

"महादेवि का स्वार्थ-कपट युत मान मत।
सच कहती, ननिहाल, गए भेजे भरत।।
पा अवसर उपयुक्त, तुरत चुपचाप फिर।
किया राम-अभिषेक-लग्न निश्चित महत" ।।३८।।

"पी ली तूने आज, द्वेष-मदिरा कहीं।"
रानी-वाणी किन्तु, कठोर न अब रही।।
"जीजी स्नेही, प्राण नाथ समझे मुझे।
कर सकती छल-कपट-कल्पना भी नहीं" ।।३९।।

"वृत्त न पहुँचा इसीलिए तव कान तक!
हुआ न तुमको नगर-सजावट-ज्ञान तक!!
क्यों न समझतीं स्वार्थ-निहित निज हित-अहित।
प्रकट कुचक्र, न उधर तुम्हारा ध्यान तक!!" ॥४०॥

मन विचलित, मुँह खुला-खुला ही रह गया।
'वृत्त न पहुँचा' श्रवण-गूंजता रह गया॥
फिर सहसा प्रेमाभिमान, विश्वास सब—
क्षण में हिला कि स्वप्न-महल-सा ढह गया॥४१॥

"समझा 'उनको' प्राण, न पाये जान कुछ।
जीजी को भी कम न, दिया सम्मान कुछ॥
फिर इस कपट-दुराव-पूर्ण व्यवहार का—
क्या कारण? कर मैं न सकी अनुमान कुछ" ॥४२॥

"कारण? बिलकुल स्पष्ट, करो तव का स्मरण।
किया नृपति ने मुदित—तुम्हारा जब वरण॥
'मिले राज्य-अधिकार, केकई पुत्र को'।
क्योंकर भूलो महाराज के वे वचन!!" ॥४३॥

"करते पर विश्वासघात नृप आप अब।
तिलकायोजन शीघ्र हुआ चुपचाप सब॥
पता भरत को भी न हुआ, निश्चय मिले—
राम-मात को मोद, तुम्हें संताप तब॥४४॥

"करती मृदु जो स्नेह-सना संलाप अब।
बदलेगी अभिषेक-अनन्तर आप तब॥
दुनिया की यह रीति सदा, क्यों भूलतीं—
जग में वर्णित सौत-कुचक्र-कलाप सब?॥४५॥

"नित्य चलेंगे हुक्म सौत-अधिकार के।
कभी बोल भी व्यंग्यपूर्ण अविचार के॥
करें अवज्ञा दास-दासियाँ मुँह लगीं।
सहना होगा विवश, तुम्हें मन मार के" ॥४६॥

हुआ तिरोहित सर्व हुलास, उदास अब।
निकले मुख से शब्द, अवश सोच्छ्वास अब ॥
"मुँह बाए अतिघोर, विपद सिर पर खड़ी।
इसका सचमुच तनिक हुआ, आभास अब ॥४७॥

'किया किसी का अहित न, भूले भी स्व-बस।
विधि ने फिर क्यों दुसह दिखाया यह दिवस !!
रह सकती मैं यों न, कभी अपमानिता।
मरना भी स्वीकार, पड़े जो भाग्यवश" ॥४८॥

"मैं यह संकट कहीं, बड़ा अनुमानती।"
विषम कथाएँ कुटिल, अनेक वखानती ॥
"रहूँ राज्य तव, झूठ कहूँ तो दे सज़ा।
'उड़ती चिड़िया गगन, चेरि पहचानती' ॥४६॥

"प्रभुता-मद या राज्य-मोह जिस पर चढ़ा।
बन जाता वह हृदय, सुकोमल भी कड़ा ॥
मानव दानव बना, राज्य-लिप्सा-ग्रसित—
करता कुत्सित कार्य, बड़े से भी बड़ा ॥५०॥

"तन-मन-गुण से राम, भले हों देवता।
भूप-वचन का अम्ब-सहित उनको पता ॥
गहरी अपनी जड़ें, जमाने राज्य में।
क्या न करेंगे? कौन सके कैसे बता? ॥५१॥

"ध्यान मुझे श्री भरत-भविष्य-विधान का।
बने न वह बलिदान, विमातृ-गुमान का ॥
डाले कारागार, न जाने क्या करें?
कि 'जान से मारता, चोर पहचान का'" ॥५२॥

रानी हुई विचेष्ट, विचल, विगलित, विकल।
हिले अधर पर शब्द न तनिक सके निकल ॥
अपलक तकती रही, विदग्ध, विदेह-सी।
छूली उसका मर्म-निलय नागिन चपल ॥५३॥

"बनें न देवि ! हताश, तनिक धीरज धरें।
कहूँ अचूक उपाय, आप निर्भय करें॥"
कुब्जा के विष-वचन, छुए उर मधु-घुले।
"तू हितेच्छु, कह शीघ्र, विपद जिससे टरे" ॥५४॥

"होगा तुमको स्मरण, सुरासुर-रण-समय—
नृप ने दो वरदान दिये, पाकर विजय॥
राम-शपथ-युत पुनः प्रतिज्ञा-वद्ध कर।
अवसर पाकर माँग, उन्हें फिर लो अभय॥५५॥

" 'सुभग भरत को राज्य, राम वनवास हो'।
विपक्ष-जन्य विरोध, समूल विनाश हो॥
बनें राम यों निबल, सबल होंगे भरत।
महिषी को संताप, तुम्हें उल्लास हो" ॥५६॥

की फिर अन्तिम चोट, विकट शठता भरी।
"कहीं करें ना बीत अकाज विभावरी॥
मत भूलो तुम-'राम-गमन हो वन गहन'।
फिर न रहेगा बाँस, न बाजे बाँसरी ! !" ॥५७॥

हुई केकई रक्त-विहीन मलीन-सी।
चित्र-लिखित-सी मौन विचाराधीन-सी॥
कलरव होने शांत, खगों का अब लगा।
संध्या-मुख-अरुणिमा, विवर्ण, विलीन-सी॥५८॥

(मंजरी या वसुधा वृत्त)

दिननाथ पश्चिम दिशा गिरे हाल ही।
पट साँझ पै असित-सा निशा डाल दी॥
बदला तभी सकल दृश्य ही 'चन्द्र' यों।
नव-भाव-तारक उछाल ज्यों भाल दी॥५९॥

अष्टम सर्ग

अन्तर्द्वंद्व

(१)

(स्वच्छन्द)

अम्बर-धरा को नव-निशा का—
असित पट स्वच्छन्दता से—
ढँक रहा।
मुख-कंज भी उसका हुआ
निष्प्रभ, निमीलित;
मौन तारे आँसुओं की बन लड़ी,
बिखरे बदन पर काँपते-से ॥७॥

पक्षियों का भी नहीं कलरव रहा,
छाने लगी निस्तब्ध नीरवता चतुर्दिशि;
पवन एकाकी निशा की साँस-सा—
रुक-रुक रहा चल,
दीर्घ श्वासोच्छ्वास बनकर;
रात भावावेश में अस्फुट मनो कुछ
स्वयम् से ही कह रही बेचैन-सी,
हृद्भाव-जुगनू विविध मुख नर्तन करे ॥१५॥

कक्ष में निज केकई बैठी अकेली
स्वयम् में खोयी विचार-निमग्न मौना,
स्त्री-सुलभ आँसू दृगों से चू पड़े यों,
मीन-मुख या पद्म से मोती झड़े हों ॥१६॥

'मंथरा क्या कह गई यह ?
घोर संकट में अचानक क्या पड़ीं मैं ?
क्या गया कोई रचा पडयंत्र सचमुच ?
छा रही क्या सत्य ही यों—
भरत के सद्भाग्य पर काली घटाएँ ?
क्या बने स्वामी स्वयम् विश्वासघाती ?
जान कर भेजा गया भोले भरत को,
क्या किसी ऐसे अशुभ उद्देश्य से ही ?
क्या मुझे रहना पड़ेगा—
स्वयम् का अभिमान खो कर ?
चेरि-सा ?
मन मार कर ?
अपमानिता बन ?
मृत्यु हे भगवान इससे तो भली है !'
अश्रु की होने लगी अब तो झड़ी ही !!३४॥

'बन सकेगी निठुर जीजी ?
राम भी क्या छल करेगा ?
लाल को मेरे अरे क्या झाँकती
छाया असित कोई ?
कहीं क्या चाहती ग्रसना ?'
गई वह काँप ही इस कल्पना से,
वल्लरी ज्यों तीव्र झोंके से पवन के !!४१॥

'पर नहीं,
संभव नहीं यह,

मंथरा की बुद्धि कोती
वह विचारी चेरि जाने क्या कि कितना
नाथ मुझको प्यार करते, मानते हैं,
प्राण क्या, प्राणाधिका ही जानते नित;
जो कहूँ मै तो सुराधिप सहित सारा
राज्य सुरपुर का विजय कर
चरण तल मेरे बिछा दें;
काल से भी यदि कहूँ, दो हाथ कर लें,
दो दिशाओं को मिला दें,
चाँद-तारे तोड़ ला दें,
ला विधाता को रचा दें,
इस धरा पर स्वर्ग दूजा !५५।।

'किन्तु !............
ऐसा क्यों हुआ फिर ?
क्यों गया इस वृत्त को मुझसे छिपाया ?
राज्य के लगभग सभी छोटे-बड़े तक
कार्य से अवगत रहे मुझको कराते,
वे कदा संक्षिप्त में, विस्तार से भी।
फिर अचम्भा जो कि ऐसा महत् आयोजन हुआ
सबको पता जिसका, प्रजा आनन्द डूबी,
कुछ न कानों-कान इसकी सूचना तक किन्तु मुझको !६४।।

व्यस्त होंगे गहन शासन-कार्य में वे।
हों प्रजा की यदि समस्याएँ उपस्थित—
तो भला उनको कहाँ फिर
स्वयम् का या परिजनों का ध्यान रहता !!६८।।

'पौर अधिवेशन चला हो, चल रही हों—
मंत्रणाएँ गुप्त शासन की कदाचित्।
फँस रहे होंगे किन्हीं यों उलझनों में;

चाहने पर भी नहीं यों आ सके हों—
इन दिनों, इस अनुचरी के पास शायद !७३॥

'पर................!
नहीं कुछ तो सँदेशा ही भिजाते !
कुछ अचानक तो हुआ होगा न तय सब ?
क्या बनी कुछ योजना होगी न पहले ?
ली न सम्मति जानपद की, पौर की क्या ?
राम-जननी तो न कुछ अनभिज्ञ होगी;
ज्येष्ठ रानी सम न क्या सहधर्मिणी मैं ?
किस तरह मुझको उन्होंने—
इस समय बिलकुल भुलाया ?
जबकि पुरजन जानते, उत्सव मनाते;
दुःख समसुख में न क्या सहभागिनी मैं ?८४॥

'मूर्ख मैं कितनी !
भला संवाद ऐसा सेवकों द्वारा पठाते ?
झंझटों में कुछ दिवस आये न यद्यपि,
कार्य को सम्पन्न करने के प्रथम पर
आगमन होगा बिना सन्देह उनका।
चाहते होंगे मुझे प्राणेश चौंकाना कदाचित्
बाहुओं में ले अचानक वृत्त दे कर !
मान से रूठी हुई मुझको
मनाने में उन्हें आनन्द आता !!९३॥

'ठीक है, पर बात साधारण न यह;
युवराज-पद-अभिषेक-बेला भी नहीं क्या—
चाहिए कुछ पूछना ही ?
डालना कुछ कान पर ही बात थोड़ी ?
राय मेरी कब रही प्रतिकूल उनके ?
जो रही उनकी, वही मेरी रही इच्छा सदा ही !९९॥

'जानकर यह, मौन स्वीकृति मान मेरी,
जानपद को, पौर को दी हों बता ।
देंगे मुझे उपयुक्त अवसर पर बता
हृदयेश निश्चय !१०३॥

'शक्य यह भी तो कि उनको—
भय रहा हो,
या रहे शंकित कदाचित्—
मैं कहीं सहमत न होऊँ,
तो रहे उनका मनोरथ ही अधूरा !१०८॥

'बात ऐसी हो कहीं,
तो घोर यह अन्याय मुझ पर,
प्रेम का अपमान मेरे, चोट गुरु अभिमान पर;
आघात भारी स्त्रीत्व पर,
नारी-हृदय का रे विडम्बन !११३॥

'नारियाँ हम भागिनी सुख-दुःख की,
पति के लिए, पति-कामना पर,
प्राण न्योछावर करें सानन्द, सस्मित ।११६॥

'पति सदा विश्वास जिनका, मान जिनका,
ध्यान जिनका, प्राण-धन, संसार जिनका;
आर्य-कुल की नारियाँ इहलोक की हम
संगिनी, अनुगामिनी परलोक में भी ।
फिर करे संदेह कोई इस तरह तो,
तन सुलगता, लोट उर पर साँप जाता !१२२॥

'स्नेह अधिकाधिक रहा मुझको सदा फिर
राम पर,
माना प्रसृत निज कोख से,

समझा न उसको सौत का सुत;
आर्यसुत को क्यों हुई यों कल्पना तब ?१२७॥

'व्यर्थ ही क्या-क्या लगी मैं सोचने,
जब बात कोई भी नहीं ।
अभिषेक का पहले न आया—
वृत्त, इतने पर उचित क्या
चित्त की दुर्भावनाएँ ?
कर रही प्रिय नाथ पर क्या स्वयम् न अविश्वास मैं ही ?१३३॥

'स्त्री-हृदय की भी दशा अद्भुत बड़ी ही ।
मानती सर्वस्व पति को,
प्राण दे दे हेतु उसके,
पर तनिक दुर्लक्ष निज की ओर होता—
देख उसका कार्यवश भी,
कल्पना क्या-क्या न जाने वह करे,
हो भावना-वश 'क्षणिक तोला क्षणिक माशा' !१४०॥

'मान भी, सम्मान भी,
शुचि प्यार जीवन भर मिला
जिनका असीमित;
अल्प-सी इस बात पर उनके विषय में—
यों लगे करने अगर शंका-कुशंका;
स्त्री-हृदय की क्या न दुर्बलता बड़ी यह ?१४६॥

'बात लेकिन 'अल्प-सी' तो यह नहीं है !
तिलक की पूरी हुई तैयारियाँ,
प्रासाद जगमग,
हो रहा घर-घर महोत्सव,
पुरजनों को तो पता, अज्ञात मैं ही !
भूपगण दूरस्थ आये पा निमंत्रण,

पर पता न कहीं भरत का ! क्या न अचरज ?
प्रात ही अभिषेक होगा, पर उपस्थित
वह नहीं, अधिकार जिसका;
भोर होते भाग्य पर कोई हँसेगा,
औ' किसी पर भाग्य ही हँसने लगेगा !१५७॥

'मान कैसे ले हृदय—
कि सहज हुई अवहेलना यह,
है नहीं कोई सुयोजित—
भेद इसमें, चाल इसमें, घात इसमें ?
याद मुझको आ रहीं बातें पुरानी;
वाटिका में छेड़ सखियों ने किया
संकेत नारद-तात के संवाद का जो,
फिर बताया पूज्य माँ ने—
किस तरह अधिकार मेरे
कर दिये मम ब्याह के पहले सुरक्षित !१६७॥

'प्रेम-रस आपाद उस दिन
डूब उतराते रहे हम;
मगन मन मैंने कहा जब—
"सुफल कितने जन्म के मम पुण्य का यह
जो मिला स्वामी तुम्हारा प्यार इतना !
रूप, गुण, धृति, शौर्य पर जब मन बिछाये
अप्सराएँ मर रही होंगी कई,
कैसे कृपा की नाथ ने मुझ अनुचरी पर ?"१७५॥

'तब............ !
(स्मरण से रोमांच होता, मन सिहरता)
आर्यसुत ने कस मुझे निज बाहुओं में
अधर अपने रख दिये मेरे अधर पर।
फिर कहा रसमय गिरा में—"प्राण ! क्या है—

अप्सराएँ, वार दें इस रूप पर,
त्रयलोक में लवलेश भी समता न इसकी !
जानती हो किस तरह पाया तुम्हें ?
गत जन्म के ही पुण्य से, प्रभु की कृपा से !१८४।।

' "एक दिन दरबार में आये मुनीश्वर;
प्रकृत अनुकम्पा रही उनकी सदा ही।
ग्रहण कर आतिथ्य सेवा, मुदित मन से,
विहँस कर, आशीष दे, बोले—'अनुपमा,
रूपसी, सद्‌गुणवती केकय-सुता की
आज देखी कुण्डली मैंने सहज ही।
वरण लो राजन ! उसे, निश्चय बनेगी—
सद्‌गुणी-धर्मज्ञ-राजस-पुत्र-माता' !१९२।।

' "पर तुम्हारे तात ने यह शर्त रक्खी—
'राज्य पर अधिकार होगा केकई के पुत्र का ही' !
' "विषम दुविधा में पड़ा—
कुल की प्रथा-विपरीत कैसे,
आज ही प्रण में बँधूँ, यों बीज कटु
गृह-कलह के बो दूँ अभी से !
तब महर्षि वसिष्ठ ने निर्णय दिया यों—
'पुत्र जब धर्मज्ञ होगा,
धर्म में बाधा बनेगा फिर नहीं वह।
भीति, चिंता आज क्यों तब ?'२०२।।

' "मैं निपूता कामना से पुत्र की
स्वीकार कर वह शर्त भी पाया तुम्हें;
सौभाग्य से पर मिल गया अनमोल हीरा !
पुत्र की जननी न केवल,
अप्रतिम तुम सुन्दरी,
देवी हृदय की !"

नम्र मेरे शब्द—"प्रियतम !
त्याग दूँ त्रयलोक का साम्राज्य तृणवत्;
प्रेम पर शुचि आपके कर दूँ निछावर !"२११॥

'जान पड़ता—भंग वचनों को उन्हीं अब
चाहते करना कदाचित;
मोह में पड़ ।
इसलिए ही क्या रचे छल-छन्द सारे ?
'प्राण जाये पर वचन जाये नहीं,'
रघुवंश की उस रीति का पालन यही क्या ?२१७॥

'पुरुष होते क्या सभी ऐसे—
कि अपने स्वार्थ-साधन-हेतु,
आश्वासन अनेकों दें प्रथम;
पालन-समय पर जी चुरायें ?
मुँह छिपायें ?२२२॥

'प्रेम उनका वह अतुल-सा,
नित रहा जो भास होता;
क्या रहा केवल दिखावा ?
या कि मेरे रूप-यौवन-भोग तक
सीमित प्रमाद,
प्रवंचना व प्रगल्भता सब ?२२८॥

'स्वप्न में भी कल्पना होती न जिसकी,
क्या वही प्रत्यक्ष में भ्रम मात्र होता ?
अगर स्वामी भी बनें यों,
तो करें विश्वास किसका ?
जग अविश्वसनीय सारा ! ॥२३३॥

'नित रहा निश्छल,
असीम सनेह मेरा राम पर,
यह, वे तथा जीजी, सभी तो जानते ।
मेरे पिताजी को वचन जो भी दिया हो,
पर मुझे यदि पूछते वे मान देते,
तो न क्या सानन्द मैं ही राम को
युवराज-पद-अभिषेक करने को सुझाती ?
किन्तु अपराधी सु-मन भी सतत शंकित,
भीत छाया से रहा करता स्वयम् की !२४२॥

'आज लगता—
कपट पहले से रहा इनके हृदय में ।
जब वरा मुझको, न थी संतान कोई
प्रथम दोनों रानियों से
तब वचन वे पूर्ण अपने आप होते ।
शब्द-पालन का उन्हें भी विरद मिलता !
ज्येष्ठ रानी को हुआ पर पुत्र जब से,
डोल इनका मन गया, हृद्भाव बदले;
योजना बनती रही मन में कदाचित,
पल्लवित, पुष्पित हुई पाकर सुअवसर ।
भरत को, मुझको व केकयराज को भी
इस महोत्सव से निपट अनभिज्ञ रखना,
क्या न इनके मन-कपट को प्रकट करता ?२५५॥

'मानती हूँ—
सत्यवादी, सच्चरित, सद्धर्म-पालक,
राम विनयी, सकल गुण-सम्पन्न निश्चय;
तेज, नय, गांभीर्य, धीरज,
शौर्य, राजोचित अभय उसमें विराजित ।

किन्तु इनमें से कमी किस बात की
मम भरत में, कोई मुझे यह तो बताये !
बस यही अन्तर,—'अनुज वह, राम अग्रज !'
पर नराधिप के वचन वे
क्या न कुछ भी अर्थ रखते ?२६५॥

'राज्य का मन में रहा कब मोह मेरे ?
आर्य्यपुत्र-समान स्वामी,
पुत्र चारों भरत-रामादिक सदृश पा,
हर्ष में फूली नहीं थी मैं समाती !२६९॥

'सूर्यकुल की रीति, मर्यादा, नियम से
जो बने युवराज अग्रज,
तो मुझे आपत्ति ही क्या ?
पर भरा छल, कपट व अविश्वास
जिस अभिषेक की यों नींव में ही;
क्या वहाँ पर
मंथरा ने जो किया उत्पन्न मन सन्देह,
उसके सत्य होने की नहीं संभावना कुछ ?२७७॥

'बहुत संभव,—
राम-जननी का रहा हो हाथ इसमें,
है विमाता अन्त में वह ।
कौन जाने,—इस कपट-छल-छद्म-हित
जिस स्वार्थ ने प्रेरित किया, अब
क्या करायेगा न 'माँ' से वह भविष्यत् में ?२८३॥

'किन्तु मै भी तो अरे 'माँ' हूँ !
भला फिर देख सकती
अहित कैसे पुत्र का निज;
जिसको रखा निज कोख में नौ मास मैंने ?२८७॥

'स्नेह, सत्य अमित
भरत औ' राम, दोनों में परस्पर;
विश्व में तुलना न जिसकी ।
क्या पता, पर राज्य पा कर
आँख बदले राम, तो अचरज न होगा ।२९२॥

'मंथरा के इस कथन में
निहित भारी तथ्य निस्सन्देह—
'केवल भरत से ही राम को भय
राज्यश्री के भोगने में' ।
वस्तुतः नृप के वचन से
राज्य पर निर्णीत-सा अधिकार उसका ।२९८॥

'क्या न संभव—
राज्य पाकर राम औ' रामाम्ब मिलकर
मार्ग-कण्टक दूर करने
खेल प्राणों से कहीं जाये भरत के !'
सिहर उट्ठी वह पुनः इस कल्पना से
विषम कुछ करने लगी फिर कर्म-निश्चय ।३०४॥

'माँ' भला जग में न सकती कर
सुरक्षा के लिए क्या पुत्र की तब ?
कामना पहले न की जिस राज्य की,
भरतार्थ आवश्यक हुआ अब प्राप्त करना ।३०८॥

'चल सकेगा अब न वह षडयंत्र उनका;
भरत को युवराज-पद मिल कर रहेगा;
राम को वनवास भी············ !
············पर राम का क्या दोष इसमें ?
वह यहीं रह ले,
भरत के राज्य पाते हल समस्या आप होगी ।
'ज़हर दें क्यों शत्रु जो गुड़ से मरें तो !'३१५॥

'पर नहीं,
यह भूल होगी;
यह नहीं उपचार कुछ उपयुक्त इसका।
द्वेष की वह वह्नि भीतर और भी क्या
तब भयंकर रूप धारण कर न लेगी ?३२०॥

'कौन जाने, गृह-कलह की आग भड़के,
या कि जन-विद्रोह का तूफ़ान आये;
कौन जाने, ईंट से बज ईंट पाये,
या रचा कोई नया षडयंत्र जाये !
चोट खाये वायु-भक्षी-भाँति भीषण
वे बनेंगे, कब डसेंगे फिर न जाने।३२६॥

'योग्य यह ही,—
मंथरा की राय के अनुसार माँगूँ,
राम को वनवास भी चौदह बरस का।
सुत-हिताय कठोर बनना ही पड़ेगा।
निश्चयात्मक जब बनें, प्रबला अगर तो,—
क्या न करना शक्य हम अबलाजनों को !'३३२॥

केकई-अंतर मचा तूफ़ान भीषण,
बेखबर राजा, प्रजा प्रमुदित, प्रहर्षित।
उधर एकाधिक पहर बीता निशा का,
पवन ने थपकी मृदुल देकर सुलाया,
फूल, पौधों, पक्षियों की वाटिका के !३३७॥

वृद्ध रवि का तो कभी का हो चुका था अन्त,
शेष स्मृतियाँ ही रहीं आद्यन्त।
किन्तु बालक 'चन्द्र' को भी जो जगत में गण्य;
अब ढकेला चाहती निष्ठुर बनी रजनी प्रतीच्यारण्य !!३४१॥

नवम सर्ग

अन्तर्द्वंद्व

(२)

(मुक्त छन्द)

शशि हुआ कृश, यामिनी बेचैन,
मुक्त नक्षत्राश्रु उमड़े नैन।
तिमिर छाता जा रहा इस छोर से उस छोर;
क्षीण-सी मिटती प्रभा की कोर ॥४॥

सो रहे तरु-अंक,
खग-विहग निःशंक।
कौन जाने, पवन ही उनचास
बह उठे, इसका उन्हें कुछ भी नहीं आभास ॥८॥

हो गया शशधर अभी जो अस्त,
नभ-धरित्री हो न जाये त्रस्त।
घेर लेगा तिमिर जग को घोर,
देर होने में अभी तो भोर।
मौन सचराचर बने निष्क्रीय,
खोजती निशि ही विकल रवि-किरण-पथ रमणीय।
बढ़ रही चुप, ले हृदय में साध।
चल रहा उर केकई के द्वंद्व इधर अबाध ॥१६॥

ली नई करवट विचारों ने अचानक ।
स्मृति-पटल पर उभरते ही
विषम अपने देश की स्थिति,
भूल-सी मानो गई वह
कुछ समय को आपदा निज ॥२१॥

'समझ लें यदि कल्पना ही,
भ्रमित मन की मम उसे सब;
क्योंकि करना राम से
समुचित नहीं ऐसी अपेक्षा ।
वह न साधारण मनुष्यों-सा विकारग्रस्त;
पुरुषोत्तम, पुरुष-आदर्श वह तो ।
प्रिय न केवल परिजनों का,
मीत वह हर व्यक्ति का ॥२६॥

'पर—
एक यह भी तो समस्या सामने बाए खड़ी मुँह;
बढ़ रहे उत्पात दिन-दिन दानवों के;
अधिक यों दुर्लक्ष्य होगा सिद्ध घातक ॥३३॥

'एक गुरुतर कार्य होगा,
जा सकें दक्षिण-दिशा यदि राम कानन ।
हो रहे वन-वासियों पर
घोर अत्याचार लख कर
राम-संभव,—हों असुर-संहार को प्रेरित ।
सहन अन्याय करना प्रकृति कुछ उसकी नहीं है ॥३६॥

'गुप्त धारण वेश कर,
घुस-पैठ कर चोरी-छिपे
लेते किसी को लूट, देते घर जला
या डाल विष्टा यज्ञ में,

तप-लीन ऋषि का काटते सिर,
पान करते खल निरीह प्रजा-रुधिर,
आतंक फैला भाग जाते;
शठ कभी जाते किसी ऋषि-कन्यका का
हरण करते।
दूसरों को कष्ट देना बन गया ज्यों धर्म उनका ॥४६॥

'छद्मवेशी असुर करते
तोड़-फोड़
प्रवेश सीमा में कभी कर,
साध अवसर;
यों प्रजा में भीति बढ़ती,
क्षीण होता जन मनोबल,
सहज उठने राज्य से विश्वास लगता।
राज्य-बल की क्षीणता का मुख्य कारण
फिर यही विक्षुब्धता मन की,
तथा जनता-जनार्दन की
असंतोषी दशा बनती;
बिखरती शक्ति सारी ॥६१॥

'उचित अवसर अब उपस्थित,
अन्त करदें हो रहे सीमा-उपद्रव,
कुचल कर इन आसुरी-खल-शक्तियों को ॥६४॥

'राम इसके योग्य बिलकुल,
कार्य दुष्कर कर सकेगा
सहज बल से,
बुद्धि से निज।
शांति-प्रियता को हमारी
शत्रु गत-शक्तित्व, कायरता समझता ॥७०॥

'राम के अभिषेक-इच्छुक नाथ तो पर,
इन दिनों संघर्ष से उपराम-भावित।
सुखद वेला में नहीं उनको रुचेगी
कल्पना भी—
पुत्र यों जोखिम उठाये,
स्नेह सीमातीत जिस पर ।।७६।।

'राज्य-वैभव भोगने में,
राम भी फिर डूब जायेंगे कदाचित् ।
अरि बढ़ाता शक्ति सीमा पर रहेगा,
दीन-दुर्बल जन वहाँ के
भीत, आतंकित रहेंगे ।।८१।।

'धूर्त रिपु, संभव,
प्रजा में भेद उपजाकर परस्पर
शक्ति उनकी, राज्य की विघटित करे;
फिर लाभ अवसर से उठा कर
आक्रमण कर दे कभी
तो अजगता रोना कहीं—
रो कर, कि दे कर
भाग्य को ही दोष,
मलते कर रहेंगे ।।६०।।

'दीन मानवता कराहेगी तथा
खुल नृत्य दानवता करेगी।
शस्य-श्यामल भूमि यह
होती रहेगी रक्त-रंजित,
ध्वस्त,
लुटता शील नारी का रहेगा ।।६६।।

'कुछ अवस्था-वश,
दया-वश, मोह-वश कुछ,

प्राणनाथ विरक्त-से इस ओर से कुछ।
विन्दु आशा का अत: अव
शक्ति-संयुत राम केवल;
सवल, योग्य, समर्थ वह सब भाँति निश्चित ॥१०२॥

'क्या, कहूँ राजर्षि विश्वामित्र को तव ?
राम को फिर साथ ले जाकर
करें यह कार्य पूरा ?
जानते वह शक्ति उसकी।
नाथ वैसे तो न भेजेंगे स्वयम् ही ॥१०७॥

'किन्तु क्यों ?
मैं ही न क्यों इस कार्य को पूरा करूँ अव ?
राम को वन भेज कर,
वरदान के मिस ॥१११॥

'दुष्ट, मानव-रूप धारी
हिंस्र पशुओं को मिटाने,
राम को क्या माँद में उनकी अकेला,
भेज देना उचित होगा ?
हल समस्या हो सकेगी इस तरह ॥११६॥

'सैन्य बिन,
शस्त्रास्त्र-सज्जित विषम रिपु से
जूझने की कल्पना करना
न होगी नीतिमत्ता, बुद्धिमत्ता ॥१२०॥

वैठ रहना शान्त भी उपयुक्त हो सकता नहीं पर।
आत्मवल युत शक्ति से कर क्या न सकता
नर अकेला भी, करे निश्चय अगर तो ?
एक रवि ब्रह्माण्ड का सब तम मिटा देता नहीं क्या ?॥१२४॥

'व्योम पर एकत्र हो तारे सहस्रों भी
न पाते कार्य कर जो,
चन्द्र कर देता अकेला ही विहँसता।
क्षीण हो जाता कभी,
तो भी न खोता धैर्य,
कर जग का प्रकाशित,
शांति-ज्योत्स्ना-स्थापना-कर्तव्य करता ॥१३१॥

'सिर उठाये गर्व से
पाषाणमय जो अद्रि रहता,
तोड़ देती शीश उसका तो न क्या
जलधार उस पर टूट दृढ़ता से स्वयम् की ?।१३५॥

'शूर को शोभा न देता
बैठ रहना सोचते ही,—
वह अकेला या दुकेला,
शत्रु-संख्या या अधिक,
बस, जूझना कर्तव्य पर
सब से बड़ा सत्कर्म उसका।
प्रज्वलित रहना सदा ही,
अग्नि का तो धर्म पावन;
'शांति' जीवन-अंत उसका ॥१४४॥

'कम न जोखिम भी
कदापि तथापि इसमें।
एक तो वन-वास, एकाकी पुनः,
त्यों दुष्ट नर-भक्षक असुर-भय भी उपस्थित।
कृत्य मेरा यह कमल को
क्या अनल में झोंकने के सम न होगा ?।१५०॥

'ठीक, पर अवहेलना जो
सत्य की, नय, न्याय की कर

खड्ग की भाषा समझते;
स्वत्व औरों का हरण कर
भस्म पर उनके स्वयम् का चाहते प्रासाद हँसता।
खेल प्राणों से करें जो अन्य के,
अथवा बुझाये प्यास अपनी
रक्त पी कर दूसरों का;
दण्ड भी तो योग्य देना चाहिए
उन नर-कलंकों को ॥१६०॥

'एक व्यक्ति समर्थ हो यदि तो न कोई
कार्य भी उसके लिए जग में असम्भव।
एक ही नाहर न क्या सब वनचरों पर राज करता ?
एक ही सूरज नहीं क्या प्राणियों का प्राणदाता ?
एक ही लघु दीप अपनी ज्योति से,
करता प्रकाशित कक्ष सारा ॥१६६॥

'भय वृथा क्यों ?
राम बल-सम्पन्न, तेजस्वी, मनस्वी,
साहसी, दृढ़, शूर, शर-चालन-कुशल ही तो न केवल,
निहित उसमें
एक दैवी-शक्ति भी तो संगठन की।
समय पड़ने पर करेगा
राष्ट्र की बिखरी हुई
सब शक्तियों को संगठित;
त्यों जन-मनोबल भी उठायेगा कदाचित् !
क्योंकि होता वास्तविक बल
जन-मनोबल ही,
प्रजा ही शक्ति निश्चित देश की नित ॥१७८॥

'बालपन से स्पष्ट ही गुण
राम में देता दिखाई।

जो निकट आता, सदा होता उसी का—
भक्त, अनुचर,
विवश स्वयम् गुरुत्व-आकर्षण-सदृश
जाता खिंचा उसकी तरफ ही।
पालने में ही नज़र तो पूत के आ पाँव जाते।
राम में लक्षण प्रकट ही युग-पुरुष के ॥१८६॥

'युग-पुरुष का जन्म होता—
क्वचित, युग-युग की तपस्या से,
धरा का भार हरने,
स्थापना सद्धर्म की कर
स्वर्ग इस भूलोक को ही तो बनाने ॥१९१॥

'किन्तु यों वरदान का ले कर सहारा
राम को यदि विपिन भेजूँ;
ग़लत समझी क्या न जाऊँगी भला मैं ?
दुनियाँ कहेगी क्या न जाने ?
कौन समझेगा हृदय की भावना को ?
'स्वयम् स्वामी, राम, परिजन भी न जाने
कल्पना क्या-क्या करेंगे—
राज्य-लोलुप, स्वार्थिनी, निठुरा,
न जाने और क्या-क्या !॥२००॥

'स्थिति विषम कैसी उपस्थित !
स्पष्ट कह दूँ तो न होगा कार्य पूरा;
अन्यथा, जग तो बुरा मुझको कहेगा !॥२०३॥

'कुछ कहें, कहले जगत्,
अपवाद भी सहना पड़े, संभावना यह।
किन्तु मानव-मात्र-कल्याणार्थ कोई
कार्य ऐसा कठिन करना ही पड़ेगा;
वज्र-सा करके कलेजा ॥२०८॥

'कार्य कोई भी बड़ा होता नहीं,
जब तक न झेलें संकटों को।
फूल पाने शूल से उँगली विंधा करती सदा ही।
दीप जलकर ही स्वयम् करता उजाला।
त्याग औ' बलिदान रहती माँगती स्वाधीनता भी !।२१३॥

'द्वंद्व हे भगवान ! कैसा मथ रहा मन !
दो विरोधी-से परस्पर तथ्य सम्मुख।
एक तो उत्पन्न संशय मंथरा द्वारा किया वह;
दूसरे, बढ़ते हुए उत्पात असुरों के दिनों-दिन;
झूलता मन दो हिंडोलों पर उलझता ॥२१८॥

'राम आशा-बिन्दु-सा लगता इधर,
पर्याप्त लगता तथ्य त्यों ही मंथरा-सन्देह में भी।
दृष्टि डालूँ उस दिशा में जब,
कपट छल-छद्म ही सब ओर दिखता;
प्राण पर भय भरत के लख, मातृ-हृदय कराह उठता;
सोचने लगता अवांछित कुछ-न-कुछ तब।
फिर कभी भ्रम-मात्र-सा लगता सभी वह ॥२२५॥

'राम-से सत्पुत्र पर सन्देह करना व्यर्थ, अनुचित।
राष्ट्र पर जो घिर रहे, उन बादलों को दूर करने
प्रकट झंझावात वह;
रवि-किरण पशुता-तम मिटाने,
केन्द्र आशा का—
मनुजता-हेतु, जन-कल्याण के हित ॥२३१॥

'पर यहीं रह कर न जन-हित-कार्य होगा।
व्यक्ति सबल समर्थ को उन—
नर-पिशाचों-मध्य जा कर ही पड़ेगा
आर्य-संस्कृति को बचाना ॥२३५॥

निकलता निष्कर्ष मानस के मथन से यह—
कि वन को भेज ही दूँ राम को
निज हृदय पर पाषाण रख कर।
जग भले कुछ भी कहे फिर !।२३६।।

योग्य यह ही।
मंथरा-सन्देह में कुछ तथ्य हों तो
ठीक होगा राम का चौदह बरस जाना विपिन को।
यों अयोध्या में रहेगा फिर न जन-सम्पर्क उसका,
वह बनेगा आप शक्ति-विहीन, उसके
पक्षपाती भी स्वयम् हत-पक्ष होंगे;
अवधि का अवसर मिले जो
भरत-राज्य-जड़ें सहज दृढ़तर बनेंगी।
लोक-प्रियता राम की निःशेष होगी,
या कदाचित् भूलने पुरजन लगेंगे—
राम के अस्तित्व को ही।
लौट कर भी कर सकेगा तब न कुछ वह,
गृह-कलह का भी न धधकेगा अनल,
मम भरत आशंकित-विपद-रक्षित रहेगा।
सहज ही यों साँप भी मर जायगा औ'
तनिक लाठी भी न टूटेगी कहीं से ।।२५५।।

'यदि कल्पना वह मंथरा मन की निरी,
तो भी न इसमें हानि, होगा लोक-मंगल ही।
असुर-पीड़ित धरा का भार उतरे।
आर्य-संस्कृति को बढ़ाने,
दृढ़, सुरक्षित राज्य कोशल का बनाने,
राम को
खल, असुर, मानव-रूप पशुओं को मिटाने,
आज या कल अग्रसर होना पड़ेगा ।।२६३।।

'वह अकेला भी रहे यदि, तो न भय कुछ,
साहसी नर कंटकों में खोज लेता मार्ग अपना ॥२६५॥

'वाह्य रिपुओं से सुरक्षित,
राम द्वारा देश होगा;
अवध का शासन सँभालेगा
भरत भी कुशलता से॥२६६॥

'मेरु-से मनुजत्व-पथ रोके खड़े जो,
नाश भी अनिवार्य उनका।
मुक्त, निर्भय रह सकें सब,
स्वत्व, न्यायोचित सहज सुख-भाग पायें,
विश्व के मानव सभी॥२७४॥

'अंक में धारे प्रकृति के,
अन्न-जल-फल-फूल-वैभव-रत्न के
उपभोग का सम,
न्याय्य, हो अधिकार सब को ॥२७८॥

'प्राण-रक्षा हो प्रजा की,
कर्म अपने कर सकें निश्शंक होकर जन सभी;
यह देखना, कर्तव्य राजा का महत्तम।
अन्यथा, अधिकार शासन का न उसको ॥२८२॥

'शान्ति से मानव रहे, इसके लिए भी
क्रान्तिकारक कर्म लगते।
बैठना विधि-लेख पर तो कापुरुषता,
मूढ़ता ही निरुद्यमी की।
शूर वर, कर्मण्य निर्भय
भक्ष वैश्वानर, पवन को बाँध चलते ॥२८८॥

'कठिन, दुर्लभ सुख न वैयक्तिक
मनुज को प्राप्त करना।
यदपि मानव-मात्र को करना सुखी दुष्कर,
सफल लेकिन तभी तो
युग-पुरुष का जन्म लेना' ॥२९३॥

'उचित निश्चित, कुलिश बनकर,
अब उपक्रम राम को वन भेजने का ही करूँ;
यों पूर्ण हो कर्तव्य माँ का,
देश का भी, लोक-मंगल-कामना का' ॥२९७॥

रजनी-हृदय-तल का तिमिर होता गया—
क्रमशः घना, इस छोर से उस छोर तक;
हृदयस्थ कोमल भाव-तारक भी मनों,
जलते हृदय के कण दमकते बन गए ॥३०१॥

'शक्ति, साहस दो, करूँ भगवान;
स्नेह को कर्तव्य पर बलिदान।
साक्ष्य तुम हो, स्वार्थ-प्रेरित मम व अन्तर्द्वन्द्व,
विश्व-मानवता रहे निर्द्वन्द्व ! ॥३०५॥ ॥७६॥

उद्गता वृत्त

(विषम वर्ण वृत्त)

द्युति-हीन अस्त नभ 'चन्द्र',
उडगन-प्रकाश-मात्र अब;
दीप अवधपुर दीपित ज्यों,
धरती छिड़ा तिमिर-ज्योति-द्वंद्व हो ! !७७॥

दशम सर्ग

उग्र रूप

(चण्डिका व उल्लाला संयुक्त छन्द)

नखत-मण्डली-राज्य नभ,
रवि-मयंक, दोनों नहीं।
तिमिर घोर बढ़ने लगा,
निशा चण्डिका बन रही ॥१॥

जग के हित तपता रहा,
दिन भर बना प्रचण्ड जो।
गया सशंकित, भीत-सा,
निशा-निकट मार्तण्ड वो ॥२॥

गा निशा को अंक से,
सुख पायें—रवि-कामना।
मिला उन्हें निशि-सौध में,
पर अभिलाषित विराम ना ॥३॥

झिलमिल नभ पर मौन ये,
दिये दिये किसने सजा ?
अथवा हर्षित झूमती,
अम्बर-नगरी की प्रजा ॥४॥

तनिक न तब उनको पता,
रजनी-अन्तर्द्वन्द्व का।
होगा निर्वासित, उन्हें—
पता कहाँ तब, चन्द का!! ५॥

श्रम-हर, विराम-दायिनी,
शीतल, जन-मन-मोहिनी।
आज वही रजनी बनी,
उमस लिये विद्रोहिणी ॥६॥

असित वसन तन, पृष्ठ पर,
बिखरे काले केश ज्यों।
आज भयानक-सा लगे,
जाने रजनी-वेश क्यों ॥७॥

कैकेयी-मन की दशा,
अम्बर-निशि-सी हो रही।
दोनों में, परिवेश में,
मनों होड़ ही हो रही ॥८॥

भू-लुंठित, तन श्याम पट,
बिखरे भूषण तत्र यों।
स-रोष लेटी हों निशा,
छितरे नभ नक्षत्र ज्यों ॥९॥

नृप ने किया प्रवेश तब,
शंकित, किन्तु प्रसन्न-से।
दशा विलोक विपन्न-सी,
रहे सन्न, अवसन्न-से ॥१०॥

बैठ समीप सभीत-से,
हाथ चिकुर-घन फेरते।
रसमय वाणी में कहा,
अपलक मुख-विधु हेरते ॥११॥

"भू-पतिता देवाङ्गना,
हरिणी उर में शर लिये।
क्यों तुम ऐसी हो रही,
टूटी लतिका-सी प्रिये ॥१२॥

"सूजे नेत्र, विवर्ण मुख,
क्यों तनवेश मलीन-सा ?
स्वर्ग-सदृश प्रासाद तव,
लगता क्यों श्री-हीन-सा ॥१३॥

"असमय क्यों बादल सुभग !
पलकों पर यों छा रहे ?
राहु-ग्रसित यह चाँद, क्यों—
दीर्घ-श्वास-मारुत बहे ॥१४॥

"चमक रही क्यों आज यों,
दृग में रह-रह दामिनी ?
क्यों पतिता कंचन-लता,
शिथिल यौवनोद्दामिनी ॥१५॥

"क्यों उदास तुम आज जब,
घड़ी हर्ष की भामिनी।
झूठ-मूठ ही रूठ या
रहीं कदाचित् मानिनी" ॥१६॥

खींच उसे नृप ने चहा,
अंक लगा लें प्यार से।
पर स-रोष उसने दिया,
कर झटक तिरस्कार से ॥१७॥

"रहने दो अब, बस हुआ,"
(नागिन-सी फुंकार की)।
"अभिनय लाड़-दुलार का,
झूठी बातें प्यार की ॥१८॥

"मग्न रहे अन्यत्र ही,
इतने दिन सुधि ली नहीं।
लोलुप, कुटिल न मधुप-से,
काश! पुरुष होते कहीं ॥१९॥

"प्रेम जताने अब लगे,
कर मीठी बातें बड़ी।
'क्यों उदास रानी हुई,
महाहर्ष की जब घड़ी' ॥२०॥

"मैं क्या जानूं कौन-सी,
नवल हर्ष की बात वो।
अब तक किसने कब कहा?
कैसे मुझको ज्ञात हो?२१॥

"फिर उस सुख पर चाहते,
एकाकी अधिकार क्या?
'स्वामी' ने नूतन दिया,
'रानी' को उपहार क्या?" ॥२२॥

"इतनी ही-सी बात बस!
कहो मानिनी! प्रेम क्या?
जीवन में मुझको कभी,
तव-हित रहा अदेय क्या?" ॥२३॥

" 'माँग-माँग' कहना सरल,
देना-लेना कुछ नहीं।
होता यही स्वभाव क्या,
राजाओं का सब कहीं?" ॥२४॥

"ओह! आज तो लग रहा,
रानी-मान विशेष कुछ।
करने इच्छा-पूर्ति तव,
रक्खा कब क्या शेष कुछ?" ॥२५॥

जान प्रणय-अभिमान वह,
हुए नृपति आश्वस्त-से।
तनिक गाल सहला दिये,
रानी के निज हस्त से ॥२६॥

रानी ने भी रूप निज—
बदला, भोला मुँह बना।
गिरा क़ठोर न अब रही,
स्वर में भरा उलाहना ॥२७॥

"स्मरण सुरासुर-समर का,
कुछ तो होगा नाथ को।
भूल गए क्या उस समय,
दिये 'वरों' की बात को?" ॥२८॥

" 'लो-लो' कहते लें न खुद,
खूब रही यह भी, अरे!
डाँटे उलटे चोर ही हीं,
कोतवाल को, वाह रे!! २९॥

"तुमने माँगा ही कदा?
किया न हमने 'ना' कभी।
धरी धरोहर वह, न क्यों—
ले लो तुम चाहो जभी" !! ३०॥

"तो दे दीजे कर कृपा,
हमें धरोहर अब वही।
श्रीमन्मान्य नरेश से,
अधिक चाहिए कुछ नहीं ॥३१॥

"वह तो लो ही, और भी—
जो चाहो ले लो प्रिये!
प्राण उपस्थित सर्वदा,
हे प्राण! तुम्हारे लिये!! ३२॥

"बहुत दिनों का स्वप्न फिर,
अब तो होने को सफल।
पौर-जान पद ने किया,
पारित आयोजन नवल ॥३३॥

"देवि ! उपस्थित आज खुद,
लेकर वह संवाद हम।
रानी को ले पाश में,
चाहा चौंकाना स्वयम ॥३४॥

"सच, अपार मन में सहज,
हर्ष उमड़ता आज तो।
प्रजानुमति से राम कल,
होवेंगे युवराज जो ॥३५॥

"राज्य-सूत्र दे कर उसे,
मन-वांछित विश्राम लूँ।
वृद्ध हुआ, अब थक चला,
तनिक शांति अभिराम लूँ" ॥३६॥

"उचित, समय-अनुकूल, शुभ,
महाराज का ध्यान ये।
अधिक चाहती कुछ न, बस,
पूर्ण करें वरदान वे" ॥३७॥

"कहो मनोरथ, प्राण भी,
दे कर वह पूरा करूँ।
नभ से रवि, शशि, नखत क्या,
स्वर्ग चरण पर ला धरूँ" ॥३८॥

"नहीं, कहेंगे यों नहीं,
प्रथम प्रतिज्ञा कीजिए।
जिससे मन विश्वास हो,
शपथ महत् वह लीजिए" ॥३९॥

"हुआ तुम्हें यह क्या प्रिये !
प्रियतम पर न प्रतीति क्यों ?
'वचन न, जाये प्राण ही,
भूलो रघुकुल-रीति क्यों" ॥४०॥

"ठीक, परन्तु न जानती,
क्यों न हठी मन मानता !
राजनीति में............!
..................क्या कहें,
कौन न जग में जानता !! ४१॥

"गई युक्ति चल, आ गया,
राजा को आवेश भी।
क्रोधी को परिणाम का,
रहता ध्यान न लेश भी ॥४२॥

"भू, नभ, दिशिपति, शशि, निशा,
दीप, नखत साक्षी सभी।
शपथ राम की, पूर्ण सब
करूँ मनोरथ तव अभी" ॥४३॥

प्रमुदित, ले स्मित मधुर मुख,
मोहक चितवन दक्ष कर।
नृप-कर ले कर में प्रथम,
मोह लिया सिर वक्ष धर ॥४४॥

कितना तीक्ष्ण कटाक्ष में,
रमणी के जादू भरा !
विश्व-जीत रण-वीर वह,
गया सभी पल मे हरा ॥४५॥

हुआ नृपति-आक्रोश सब—
हवा, निरख मुसकान को।
ललचा उठे अतृप्त-से
अधर, अधर-मधु-पान को ॥४६॥

अवसर यों अनुकूल तव,
मन ही मन में तोल कर।
रानी ने सस्मित कहा
वाणी में मधु घोल कर ॥४७॥

"सत्य, अपूर्व प्रसंग यह,
होवेगा जीवन सफल।
समुद करेंगे पुत्र का,
राजन् जो अभिषेक कल ॥४८॥

"पिता-हेतु नित एक-सी,
भेद-रहित सन्तान सब।
भरत-राम पर नाथ का,
स्नेह रहा न समान कब!! ४९॥

"सामग्री सब ही जुटी,
नगर हर्ष-अतिरेक हो।
पूर्ति प्रथम वर की यही,
नाथ! भरत-अभिषेक हो" ॥५०॥

भय-युत शंका-भाव सुन,
नृप-मन में जुड़ने लगा।
भुज-बन्धन ढीले हुए,
वदन-रंग उड़ने लगा ॥५१॥

सहम, तथापि सँभल, कहा—
"दोनों पुत्र समान नित।
राम ज्येष्ठ, कुल-रीति का,
जन-मत का भी-ध्यान नित" ॥५२॥

"पत्नी मैं न विवाहिता?
भरत पुत्र औरस न क्या?
गुणी न! रघुवंशी न वह?
फिर 'जन-मत' का प्रश्न क्या" ॥५३॥

"सो व़ात न, कल ही उसे—
बुला, तिलक देता किये;
द्रविड़-सिन्धु-सौवीर या,
वङ्गाङ्ग-मगध का प्रिये ॥५४॥

"समझाना यों चाहते,
उसे कुछेक प्रदेश पर?
जन्म-सिद्ध अधिकार जब,
उसका सारे देश पर ॥५५॥

"दिये वचन परिणय-समय,
रहे अचानक भूल क्यों?
दृग में अब वाग्जाल से,
झोंका चाहो धूल क्यों ॥५६॥

"सच तो यह, माँगा नहीं,
कुछ भी तो मैंने नया।
यह वर उसकी पूर्ति, जो—
दिया बहुत पहले गया ॥५७॥

"द्रविड़ - सिन्धु - सौवीर या,
सिर्फ मगध-वङ्गाङ्ग क्यों?
सब कुछ जब तय था प्रथम,
जन-मत का फिर स्वाँग क्यों?" ५८॥

हुए निरुत्तर, रह गए—
दशरथ एकाकी सहम।
वही हुआ जिस बात का,
मन में रहता नित वहम ॥५९॥

कहते क्या, करना पड़ा—
विवश उन्हें स्वीकार ही।
'जानें ले अब माँग क्या',
करते भीत विचार ही ॥६०॥

जब तक नृप यह सोचते,
कि वचन यों गूंजे श्रवण।
वज्रपात से ही मनों,
करने प्राणों का हरण ॥६१॥

"वर दीजे यह दूसरा,
पूरण मन अभिलाष हो।
वर्ष चतुर्दश राम का,
सघन अरण्य-निवास हो" ॥६२॥

होश - हवास हवा हुए,
नयन अँधेरी छा गई।
लगी घूमने-सी धरा,
अष्ट दिशा टकरा गई ॥६३॥

पाला पड़ा कि क्या, हुआ—
नीला मुख, पीला वदन।
मार गया ज्यों काठ ही,
रहा न मानों रक्त तन ॥६४॥

सहसा ही वे छू गए,
शब्द मर्म को विष-घुले।
कि हिले न अधर, रह गए
बस नयन खुले के खुले ॥६५॥

"क्यों? चुप क्यों हो गए?
लगा हृदय क्यों दरकने?"
व्यंग्य-वाण से फिर लगी,
नमक जले पर छिड़कने ॥६६॥

"माँग-माँग' कह क्यों प्रथम,
लगा कलेजा काँपने?
वस्त्राभूषण ले कहीं,
समझा शायद आपने ॥६७॥

"दे दो वर, या प्रण करो,
पर सब रखो उधार तुम !
देते बगलें झाँकिये,
सचमुच बड़े उदार तुम ! ॥६८॥

"सत्य-संध रघुवंश के,
वचन मुकर जाओ, चहो !
डींगे मार बड़ी बड़ी,
'देना कह' अब 'ना' कहो ! ॥६९॥

"शिवि, बलि, अज व दधीचि को,
देते प्राण न सोच कुछ !
आप भले कुछ दें नहीं,
देते 'वर' न सँकोच कुछ ! ॥७०॥

अब न चलेगी पर तनिक,
चुपड़ी बातों की ठगी।
मन चीता हो कर रहे,
बुझे आग मन में लगी ॥७१॥

" 'मीन-मेष' कर यदि करो,
दोनों वर पूरे नहीं।
तव यश-तिलक-प्रमाण में,
शीश पटक दूँगी यहीं" ॥७२॥

शर से आहत मृग सदृश,
कोसलपति निस्पन्द-से।
'स्वप्न या कि सच' सोचते-
मनों किये दृग वन्द-से ॥७३॥

" 'राज्य भारत को पूर्ण दें',
वचन मान यह तो लिया।
किन्तु कहो अपराध गुरु,
अनघ राम ने क्या किया ? ७४॥

"स्नेह राम पर कम न तव,
अहित कभी सोचा नहीं।
सपना यह, अथवा रहा,
धोखा वह छलने ! कहीं ? ७५॥

"जो भी हो, तज रूप यह,
लिया प्रथम वर मान ही।
सिवा राम के अपर वर,
भले माँग ले प्राण ही" ॥७६॥

"छलना तो रानी बड़ी,
उसे किये का फल मिले,
कल हो यह, तब कल मिले,
वर बस मुझे सफल मिले" ॥७७॥

"भरत-राम में भेद कुछ—
उसे नहीं, निर्दोष वह।
कहा कभी उसने न कुछ,
व्यर्थ तुम्हारा रोष यह" ॥७८॥

"सत्य, आप दोनों सदा,
धुले दूध के अति सरल !
धरा व्यक्ति ऐसे विरल,
कि अमिय मुख, अन्तर गरल" ॥७९॥

असहनीय इस व्यंग्य से,
तड़प उठे महिपाल तब।
रानी उनको ज्यों लगी,
काल-रूप विकराल तब ॥८०॥

"सूत्रधारिणी नाश की,
क्यों तू रानी बन रही ?
शब्द-शब्द विष उगलती,
पूर्व जन्म नागिन रही ? ॥८१॥

"कसी अरे विडम्वना !
विधि का वज्राघात क्यों ?
रघुकुल-नभ में बन रही,
सुमुखी ! उल्कापात क्यों ? ॥८२॥

"निठुरे ! ज़रा विचार कर,
विना राम कसे रहूँ ?
उसे न वन को भेज, वस,
वाक़ी साँसत सव सहूँ" ॥८३॥

"यदि ऐसी थी वात, क्यों—
'माँग - माँग' कहते रहे ?
निज निर्णय पर अटल में,
कहो 'न' तुम, या दो चहे" ॥८४॥

"कितनी कुलिश-कठोर तू !
खेले मेरे प्राण से।
विधि ने तेरा उर रचा,
जानें किस पाषाण से ॥८५॥

"तू भी तो 'माँ', सोच कुछ,
क्या होगा उस हृदय का ?
सहसा तिलकस्थान पर,
विपिन-गमन सुन तनय का ॥८६॥

"मिट न तनिक पायी अभी,
जिसके कर की मेहँदी।
कल ही की तो बात जो,
परिणय-डोरे में वँधी ॥८७॥

"आँखों की पुतली रही,
जो नित ममता में पली।
कुसुम-सदृश वह जानकी,
जायेगी क्या दलमली ॥८८॥

"दूँगा उत्तर क्या उसे,
विलख उठेगी जो प्रजा ?
यही कि 'कामुक नृपति ने,
नारी-वश सुत को तजा' ॥८९॥

"साधु राम निश्चय, उसे—
तनिक राज्य का मोह ना।
यह भी सत्य कि सह सके,
उसका भरत विछोह ना ॥९०॥

"वृथा न हठ कर यों प्रिये ?
तव शपथ, न सन्देह ही।
भरत बनें नृप, कर दया,
रहे राम बस गेह ही" ॥९१॥

"आप, राम, रामाम्ब सब,
साधु ! जान कब का लिया !
किन्तु न बदले वचन अब,
कि कह दिया सो कह दिया" ॥९२॥

"तड़पा-तड़पा कर न यों,
निष्ठुर ! मेरे प्राण ले।
रख ले राम, भले हृदय—
फिर यह भोंक कृपाण, ले ॥९३॥

"जाना अब, की मूर्खता,
तुझ पर अति विश्वास कर।
नर मरता जिस पर वही,
नारी बने विनाश कर ॥९४॥

"रूप-जाल में नारि क्या,
केवल अरे प्रवंचना !
माया ...."
........." रहने दीजिए,
भाता तुझे प्रपंच ना ॥९५॥

"सत्, चित्, माया से परे,
साधु, सरल होते पुरुष!
प्रथम वचन दे स्वार्थ-हित,
करे घात बन कर परुष! ॥९६॥

"रख ले कर निर्णय उचित,
पौर-जानपद शान्ति भी।
वरना निज अधिकार-हित,
हो जा सकती क्रांति भी ॥९७॥

"अधिक न सुनना चाहती,
गये न वन यदि राम कल।
और न जो कुछ हो सका,
पी लूंगी निश्चय गरल" ॥९८॥

सहे कभी जिस नृपति ने,
पविप्रहार बड़े-बड़े।
सह न सके, 'हा राम' कह,
आहत, मूर्छित गिर पड़े ॥९९॥

काल-भैरवी चण्डिका,
तब लगती रानी बनी।
तिमिरावृत अम्बर-धरा,
रजनी बनी भयावनी ॥१००॥

(नराचिका व भुजंगसंगता संयुक्त वृत्त)

हा! 'चन्द्र' भी नहीं रहा,
वहला समीर 'सी' किये!
तारे रहे न, ओस ले—
दृग, भूमि-व्योम रो दिये ॥१०१॥५६८॥

एकादश सर्ग

वरदान - विभीषिका

(रुचिरा द्वितीय-अर्धसम-छन्द)

अब तक जग निशि रुचिरा सोई,
कुछ कटी तिमिर की जाली।
वहा सकुचता पवन, फटी पौ,
झलकी प्राची-मुख लाली ॥ १ ॥

पड़े टूट धरती पर बिखरे,
निशा-हार के सब मोती।
या आँचल सिक्त धरा का जो,
वह आँसू रही पिरोती ॥ २ ॥

रजनी की काली करनी का,
पता नहीं कुछ ऊषा को।
स्मित-वदना, शुभ-मना, अदूषा,
निर्मल अम्बर भूषा को ॥ ३ ॥

अरुणोदय लख चहके पंछी,
उनको भी कहाँ पता है ?
आज विधाता ने कितना इस,
हर्ष में अमर्ष भरा है !! ॥ ४ ॥

वगिया में महके सु-मन सुमन,
कली लजीली मुसकाई।
अवधपुरी की गली-गली में,
भीनी सुगंध सरसाई ॥ ५ ॥

किया प्रकृति ने शृंगार नवल,
छाया मधुमास धरा जो।
इधर राम-अभिषेक निरखने,
जन-मन उल्लास भरा यों ॥ ६ ॥

बालाओं ने चन्दन छिड़का,
अरुणोदय के पहले ही।
सजीं-धजीं वे, विलम्ब सजने,
ऊषा को लगे भले ही ॥ ७ ॥

दर्शन-लोलुप उन्मत्त बनी,
सब जनता उमड़ चली ज्यों।
'रघुवर सियाराम की जय' की
ध्वनि गूंजी गली-गली ज्यों ॥ ८ ॥

लगे भाट विरुदावलि गानें,
विविध भाँति राजद्वारे।
बजे वाद्य शुभ-वीणा, वंशी,
शहनाई, शंख, नगारे ॥ ९ ॥

अधीनस्थ राजागण आये,
उत्सुक मन सब दरबारी।
गुरु वसिष्ठ भी आये, दिखती,
नृपवर की पर न सवारी ॥१०॥

गुरु ने सुमंत्र को अचरज से—
देखा, (दृग उठे घनेरे)।
'कैसे अब तक निद्रावश नृप,
जो उठते नित्य सवेरे'!! ॥११॥

चल मौन संकेत समझ कर,
राज-भवन को तव मंत्री।
शंकित,. विविध विचार-सुरों से,
पल-पल झंकृत हृत्तंत्री ॥१२॥

डाल रहा अचरज में उनको,
सन्नाटा अधिक वहाँ का।
जहाँ प्रहर्षित, मुखरित कण-कण,
होना चाहिए तहाँ का ॥१३॥

अन्तःपुर फिर पहुँचे मँगवा—
अनुमति दासी के द्वारा।
भौचक-से रहे, वहाँ का जब,
अनपेक्षित दृश्य निहारा ॥१४॥

भव्य कक्ष छोटी रानी का,
वह स्वर्गत सुषमावाला।
सूना लगता, मनों किसी ने,
तहस-नहस ही कर डाला ॥१५॥

पड़े धरा पर नृप वेसुध-से,
तेज गया छिन ज्यों सारा।
दीर्घ श्वास, दृग मूँदे, वहती—
गंगा-यमुना की धारा ॥१६॥

लगता,—पूरी रात रहे हों,
वे ऐसे ही अध-चेते।
जव-जव खुलते दृग उनके, बस
नाम राम का ले लेते ॥१७॥

रानी की भी दशा निराली,
विशृंखल सारी भूषा।
बिखरे भूषण यत्र-तत्र ज्यों,
खुल पड़ी निशा-मंजूषा ॥१८॥

'उठा किये इस नन्दनवन में,
निशि भर में कौन बगूले ?'
रहे सोचते स्तंभित, करना
अभिवादन भी वे भूले ॥१९॥

कानों से तव तक टकराई,
रानी की अस्फुट वाणी।
आँखें मुक्ता-विन सम्पुट-सी,
पर गिरा मंजु कल्याणी ॥२०॥

"पता नही क्या हुआ कि राजा,
नही रात भर सो पाये।
रामाभिषेक के सपने मे,
रहे कदाचित् भरमाये ॥२१॥

"जव-जव टूटे तंद्रा उनकी,
'राम-राम' रटते जाये।
वुला राम को लो सचिव ! करो—
वह जो इनके मन भाये" ॥२२॥

चले स्व-चालित कल-से मंत्री,
पर-चालित कठ-पुतली-से।
करवट लेकर तड़पे नरपति,
विना नीर की मछली-से ॥२३॥

वोले विह्वल-से "चारों सुत
मेरी आँखों के तारे।
राम-लषण जितने, उतने ही,
भरत-शत्रुहन भी प्यारे ॥२४॥

"भरत राज्य नि.संशय पाये,
कुटिल राम पर भृकुटी क्यों ?
निर्दय वनकर रानी ! छीने
मुझ वूढ़े की लकुटी क्यों ? ॥२५॥

"तनिक ठंड से ठिठुरा जाता,
तनिक धूप से कुम्हलाता।
उस इन्दीवर राघव को क्या,
देख सकूंगा वन जाता? ॥२६॥

"होगा सीता-कौशल्या के
हाल हृदय का क्या रानी!
कैसे इसको मानेगी, जो—
प्रजा हर्ष से दीवानी? ॥२७॥

"रहने दे, वस, जला प्रिये! मत,
इतने हृदयों की होली।
निठुर न वन नारी होकर, तव
सम्मुख फैलाऊँ झोली!" ॥२८॥

"प्रिय चारों, किन्तु एक को रच—
षडयंत्र विदेश भिजाना!
धन्य, दूसरे का अवसर पा,
यों गुपचुप तिलक रचाना!! ॥२९॥

"रीति वड़ों की सुन्दर! कितना
कथनी-करनी में अन्तर!
भिन्न दिखाने के, खाने के,
होते गज-दंत निरन्तर!!" ॥३०॥

क्रोध-दुःख से तड़प उठे नृप,
शाखा-सी काँपी देही।
"कुल-नाशकारिणी यमदूते!
निठुरे, दुष्टे, कैकेयी ॥३१॥

"वरा तुझे किस अशुभ घड़ी में,
समझ प्रथम ऊषा-बाला।
भस्म वंश को ही करने तू,
निकली दावानल ज्वाला ॥३२॥

"निर्मोही यदि बनकर सबको,
राम छोड़ वन जायेंगे।
निश्चय मेरे आनन-फानन,
प्राण छोड़ तन जायेंगे ॥३३॥

"फिर निशंक मेरी अर्थी पर,
तिलक भरत का रचवाना।
सिर बँधवा वैधव्य-सेहरा,
कलंक-टीका लगवाना ॥३४॥

"अभी हाल यह, पीछे मेरे
जाने क्या बन जायेगी!
कौशल्या पर, वैदेही पर,
कौन क़हर तू ढायेगी ॥३५॥

"दया-भीख याचक-सम माँगी,
टुक न पसीजी तू लेकिन।
निर्मम कितनी बनती रानी,
पूर्व जन्म की ज्यों वैरिन ॥३६॥

"कर न देर अब, पुण्य कमा, कर—
उर-पार कृपाण दुधारी।"
चमकी कर करवाल कि गूँजा,
"यह कैसी दशा तुम्हारी"!! ३७॥

राम द्वार पर, अविचल रानी,
नृप-कर असि, पल सन्नाटा।
क्रोध, दुःख फिर घृणा, प्रेम का
उर उठा ज्वार या भाटा ॥३८॥

गिरे चेतना-हीन 'राम' कह,
पर-कटे विहग की नाईं।
कि लिया सँभाल दौड़ राम ने,
व्याकुलता मुख पर छाई ॥३९॥

"माँ ! यह कैसा हाल पिता का—
असह्य, कुछ बतलाओ तो।
श्री-हत तुम, सब अस्त-व्यस्त, मैं—
व्यथित, तुरत समझाओ तो ॥४०॥

"क्या रुग्ण पिता ? कोई अथवा,
भूल हुई मुझसे भारी ?
कुपित, दुखित जो वे, धर्य न मन,
शीघ्र कहो अब महतारी ! !"४१॥

"ऐसी कोई बात नहीं, तुम—
मर्यादा की मर्यादा।
प्रकट रहस्य करूँ, बातों में
तुम्हें न उलझाऊँ ज्यादा ॥४२॥

"होगा ज्ञात न तुम्हें तात कुछ,
यह महती बात पुरानी।
ब्याह-समय केकय-स्वामी की,
शर्त इन्होंने कुछ मानी ॥४३॥

"ज्येष्ठा से भी पुत्र उन्हें हो,
अवसर ऐसा यदि आये।
फिर विवाह जिस अर्थ करें ये,
राज्य पुत्र मेरा पाये ॥४४॥

"पुनः सुरासुर-समर समय जब,
सफल-प्राय अरि-शर-घाती।
रक्षा मम सारथ्य-कला ने
की, तब के दो वर थाती ॥४५॥

"आज परन्तु कपटपूर्वक ये,
करते अभिषेक तुम्हारा।
सो विवश मुझे उन युग वर का,
अब लेना पड़ा सहारा ॥४६॥

"परिणय-प्रण की पूर्ति-मात्र ही,
पहला वर सीधा-सादा।
'गृह-कलह न हो, वन-गमन तुम्हें,
वर दूजा,—'न रहे बाधा' ॥४७॥

"सत्य-संध (!) ये उलटे-सीधे,
अब 'किन्तु-परन्तु' लगाये।
मोह-स्वार्थ-वश आज ताक पर,
रख दीं सभी प्रतिज्ञाएँ ॥४८॥

"मम निर्णय अटल, न होने में—
उसके कुछ शेष रहेगा।
'कुछ ले, कुछ दे' समझौते का,
प्रश्न न लवलेश रहेगा ॥४९॥

"तुम सुज्ञ, कहीं कोई ऐसा,
कदम न अनर्थ युत लें लें।
जिससे अपयश हो न, राज्य में—
न अशान्ति अकारण फैले" ॥५०॥

राम अवाक, कल्पना कब थी—
इसकी, 'घटना यह कैसी ?
पल में क्यों परिवर्तित ऐसी,
स्नेही छोटी माँ जैसी ! ! ५१॥

"एक घड़ी के बाद रहा हो,
जो राजा बनने वाला।
ललाट में क्या अदृश्य उसके,
रे विधना ! देश-निकाला ! ! ५२॥

'अरे, धर्म-संकट यह कैसा,
कौन कसौटी की कक्षा ?
पिता-वचन की करनी होगी,
निज बलि देकर ही रक्षा' ॥५३॥

मन ही मन यों विचार पलभर,
सँभल, सहज, सविनय बोले।
मिटे गरल-कड़वाहट जिससे,
वचन मधुरिमा-से घोले ॥५४॥

"बस इतनी-सी बात अगर, तो
व्यर्थ पिता का मन भारी।
भरत मुझे प्रिय सर्वाधिक, हो
तिलक उसे जो अधिकारी ॥५५॥

"इस घटना का पाया मैंने,
पहले आभास नहीं कुछ।
क्यों होता यों दुःख पिता को,
धन का मैं दास नहीं कुछ ॥५६॥

"दुख तो यह कि पिता ने मुझको,
इतना भी योग्य न माना।
अर्थ-राज्य-लोलुप ही जाना,
तो न मुझे फिर पहचाना ॥५७॥

"सुख-सम्पद क्या, भव-वैभव तज,
तव सुख-हित बनूं विरागी।
तात-मात-हित तजे प्राण भी,
सो सुत निश्चय बड़भागी ॥५८॥

"दुखी न होवे पिता जरा भी,
तत्पर मैं, तुम हो प्राज्ञा।
सिर-आँखों पर तव आकांक्षा,
अनकही पिता की आज्ञा" ॥५९॥

"राम ! समझदारी की तुमसे,
रहती ऐसी ही आशा।"
यद्यपि तूफान रहा उर में,
संयत परन्तु अति भाषा ॥६०॥

"उचित विलम्ब न, विप्लव पुर में,
हों न, भरत को बुलवा लो।
भूल सुधार पिता की, वन जा,
दृढ़ रघुकुल-रीति निभा लो" ॥६१॥

तभी बदल करवट उठ बैठे
नृप, चेतना पुनः जागी।
कहा राम को हृदय लगाकर,
बरसीं अँखियाँ अनुरागी ॥६२॥

शब्द न निकले मुख, लगी झड़ी—
दृग, बस सावन-भादों की।
बहने हृद्गत लगी व्यथा, गत
यादों की, उन वादों की ॥६३॥

न अविचलित रह सके राम भी,
नृप की दयनीय दशा से।
धीर-वीर-गम्भीर उदधि-से,
धीरज खो, हुए रुँआसे ॥६४॥

पल में पलकों में पी आँसू,
स्वाभाविक धीरज धारे।
क्यों न भले ही रुँधे कण्ठ से,
पर गिरा मधुर उच्चारे ॥६५॥

"रवि-कुल में रवि-से आप पिता!
अचरज, यों धीरज खोयें!
रण आग उगलने वाले दृग
आठ-आठ आँसू रोयें!! ६६॥

"रण या वन गहन, सदन शोभन,
क्या अन्तर रण-धीरों को?
हर संकट दैवी अवसर ही,
कुछ कर जाने वीरों को ॥६७॥

"बचपन में मुनि-संग आपने,
असुरों से लड़ने भेजा।
वन-विचरण के स्मरण-मात्र से,
होता अब टूक कलेजा ॥६८॥

"जानें क्या विधि-रहस्य इसमें,
व्यर्थ न छोटा मन कीजे।
दैव-रचित यह स्यात परीक्षा,
आशीष पिता ! शुभ दीजे" ॥६९॥

रुकी न दृग-जल-धारा, उलटे
रुका बाँध मानो टूटा।
"हा बेटा !..................!"
रुँध गया गला, दुक
शब्द न जिह्वा से फूटा ! ! ७०॥

कठिनाई से निकली वाणी,
अस्फुट-सी जैसी-तैसी।
हतभागी मैं कितना जग में !
विडम्बना विधना कैसी ! ! ७१॥

"राम ! सोचते होगे तुम क्या,
कि पिता कितने अन्यायी ?
खड़ा धर्म-संकट-रेखा पर,
बाड़व उधर, इधर खाई ॥७२॥

" 'नारदागमन, सलाह गुरु की',
स्मरण अशुभ वे क्षण आते।
सच, मनुष्य के दिन फिरते जब,
वरदान शाप बन जाते ॥७३॥

"प्राण न पर इस जर्जर तन में,
तुम बिन अब तो रह पायें।
'हे भगवन दयानिधान ! करो
दया कि राम न वन जायें' ॥"७४॥

"हों न अधीर पिता यों, तजिये
अपने मन की कमजोरी।
माया वश क्यों करें किसी के,
अधिकारों पर वलजोरी!! ७५॥

"राज्याधिकार भरतार्थ अगर,
पहले रक्षित कर छोड़े।
वस्तुस्थिति को विसार फिर क्यों,
प्रण-पालन से मुख मोड़े?" ७६॥

"माना, कैकेयी-सुत को तव,
किया राज्य का अधिकारी।
पर इसका यह अर्थ न होता,
कि वनो तुम यों वनचारी!!" ७७॥

"आप वँधे पर महाराज जिन
अन्य वरों में, उनका क्या?
पालन जो कर्तव्य करें हम,
तो फिर सुख-दुख मन का क्या? ७८॥

"शोक-मोह सव वृथा, छोड़िये,
तात! मुझे आज्ञा दीजे।
प्रजा भ्रमित हो न अधीर कहीं,
उठिये, उनकी सुधि लीजे" ॥७९॥

"सोचे-समझे विन दे डाले—
जो वर, भूल हुई भारी।
पर मेरी गलती पर दे दूं,
वलि कैसे हाय तुम्हारी!! ८०॥

"रहो यहीं तुम समीप मेरे,
युवराज भरत वन जाये।
तुम सम्मुख तो, सव सह लूंगा,
यश-अपयश जो सिर आये" ॥८१॥

हृदय-हीन दर्शक-सी बैठी,
निर्मम पत्थर-सी रानी।
दिखा प्रभाव न कुछ उस पर ज्यों
उलटी गागर पर पानी ॥८२॥

मन दुर्भावना जगी हो जब,
दृष्टिकोण जब बदला हो।
हर अक्षर अर्थ बदलता तब,
अबला हो या सबला हो ॥८३॥

कहें दशा क्या नृप के मन की,
कवि की वाणी भी हारे।
नपे-तुले शब्दों में रघुवर,
बोले तब धीरज धारे ॥८४॥

"ठीक, किन्तु रखने को माँ का
मन ही, मैं वन जा आऊँ।
अवधि बीतते देर लगे क्या?
अभिनव अनुभव ही पाऊँ ॥८५॥

"गुरुतर नित कर्तव्य प्रेम से,
करें न उसकी अवहेला।
कर्तव्य-हेतु ही आर्यों ने,
कब कौन न संकट झेला ॥८६॥

"आशीष रहे तव, तो सुख से
वन में भी रह पाऊँगा।
आतुर, उद्विग्न न हों इतना,
लौट शीघ्र ही आऊँगा ॥८७॥

शीश नवा कर चले पिता को,
क्षण भर न विलम्ब लगाये।
मूर्छित हो कर गिरे धरा नृप,
'हाय राम' ही कह पाये ॥८८॥

हुई कैकई विचलित आखिर,
दृश्य निरख हृदयद्रावी ।
पर सोचा—दृढ़ रहना होगा,
मुंह वाए संकट भावी ॥८९॥

प्रजा उधर अभिषेक-हेतु अति,
उत्सुक-सी, विह्वल-सी ही ।
खबर नगर भर में यह घर-घर
फैली दावानल-सी ही ॥९०॥

प्रासाद बना अवसाद-सदन,
खाने दौड़ें दीवारें ।
तृण-तृण कम्पित भय विह्वल-सा,
कण-कण चुप आँसू ढारे ॥९१॥

अनमन-सा रवि जलता-तपता,
नभ-पथ पर चलता जाता ।
वृक्ष मौन, संतप्त पवन भी,
पक्षी - मण्डल अकुलाता ॥९२॥

(दोधक वृत्त)

आग लगी तन किंशुक के ज्यों,
कोकिल कूक रही वनवासी ।
मौन मिलिन्द, निढाल लता भी,
फैल गई क्षिति 'चन्द्र' उदासी ॥९३॥६६१॥

द्वादश सर्ग

वन-गमन-निर्णय

(मानव छन्द)

मथ मानव-मन को पहला,
प्रहर दिवस का बीत गया।
पग-पग कर्तव्य-मार्ग पर,
बढ़ता भानु सभीत गया ॥१॥

चहल-पहल भी ऊषा की,
अब तो तनिक न दीख रही।
उमस लिये दिन, रहा न मृदु,
विहगों का संगीत कहीं ॥२॥

हूक भरी कोयल कूके,
तरु पल्लव-आँसू ढाले।
कोमल कलियाँ मुरझाई,
छिपे भ्रमर भी मतवाले ॥३॥

महक रही थी बगिया भी,
जो एक पहर के पहले।
लगे कुसुम झड़ने उसके,
नीले, सित, लाल, सुनहले ॥४॥

एक विचित्र घुटन-सी तब,
यद्यपि मधुमास मनोहर।
जन-मन - उल्लास - तिरोहित,
आकुल मानों सचराचर ॥५॥

देवालय में पूजा-रत,
बैठी कौशल्या रानी।
इसके कानों तक पहुँची,
न अभी तक विषम कहानी ॥६॥

पर जानें क्यों उसका मन,
होता रह-रह कर अस्थिर।
ध्यान न लगता, चित विचलित,
कुछ आशंका से फिर-फिर ॥७॥

सविनय कर जोड़ राम की,
ईश्वर से कुशल मनाती।
बार - बार झुकतीं पलकें,
बार - बार उठ जातीं ॥८॥

सहज भाव से तब आये,
उसके 'बालक' रघुनायक।
सस्मित, न अम्ब को जिससे,
पहुँचे आघात अचानक ॥९॥

पद छूते सुत को माँ ने,
अंक लगा चूमा मस्तक।
यथा दिवा ने शिशु रवि को,
अलि को नलिनी ने चम्पक ॥१०॥

"सुखी रहो नित, हो विजयी,
धर्म - निष्ठ में बलि जाऊँ।
दिशि-दिशि फहरे विजयध्वज,
सुन कीर्ति-गान-सुख पाऊँ ॥११॥

"भूलो न, भार यह आता,
नया प्रजा-रक्षण का सर।
ध्यान रखो उसके सुख का,
हो उसमें तिलभर न कसर ॥१२॥

"कर रहे प्रतीक्षा होंगे,
प्रेमी जन उत्साह-भरे।
निकट तिलक-वेला, जाओ,
तव रक्षा भगवान करे" ॥१३॥

"अवधाधीन राज्य सारा,
अब भरतार्थ प्रदान किया।
आज पिता ने मुझको माँ!
कानन राज्य विशाल दिया!! १४॥

"दो आशीष कि मैं निर्भय—
आज्ञा-पालन कर पाऊँ।
राज्य करूँ निर्विघ्न वहाँ,
सब वनचर मित्र बनाऊँ" ॥१५॥

माँ निर्वाक, फटी आँखें,
विस्मय से कुछ घबराई।
राज्य भरत को, तुम्हें विपिन?
क्या कहते? समझ न पाई" ॥१६॥

"राज्य भरत को, नाना को,
चूँकि पिता ने दिये वचन।
छोटी माँ ने मेरे हित,
वर्ष चतुर्दश माँगा वन" ॥१७॥

गिरी गाज ही मानों सिर,
सह सकती 'माँ' यह क्योंकर?
गिर पड़ी 'धड़ाम' धरापर,
चेतना-हीन वह होकर ॥१८॥

राम-यत्न से सचेत हो,
बिललाई वह—"हा विधना !
कैसी कुटिलाई तेरी,
यह कैसी अघटित घटना ! ! १९॥

"ऐसे भी होते निर्दय,
जग में क्या माँ-बाप कहीं ?
अपने बच्चों के हित जो,
स्वयम् बनें अभिशाप कहीं ॥२०॥

"नही चाहते हम कुछ भी,
राज्य भरत ले ले सारा।
पर वन-वन भटको तुम जो,
ऐसा क्या दोष तुम्हारा ॥२१॥

"नहीं, नही, तुम जाओगे,
छोड़ अवधपुर कही नहीं।
आज्ञा होती जननी की,
सदा जनक से बड़ी कहीं" ॥२२॥

"शांत, शांत, इतनी न बनो,
अधीर, टुक धैर्य धरो माँ !
उचितानुचित परिस्थिति का,
तुम तनिक विचार करो माँ ! ! २३॥

"स्नेह उमड़ता नयनों में,
पिता बँधे पर वचनो में।
कीर्ति मिटेगी रघुकुल की,
वर बढ़ेगा अपनों में ॥२४॥

"गृह-कलह न हो, इस कारण
आज्ञा यह छोटी माँ की।
क्यों न इसे माने अकथित,
आज्ञा प्रण-बद्ध पिता की ॥२५॥

"ताज राज तो काँटों का,
वन में स्वच्छन्द रहूँगा।
जंगल मंगल मय हो, तव
आशीष, न कष्ट सहूँगा ॥२६॥

"राज्य न अंतिम लक्ष्य पुनः
कुछ मानव के जीवन का।
विकास का क्रम सुरत्व में,
नरत्व के परिवर्तन का" ॥२७॥

"फिर मैं भी साथ चलूँगी,
वन राज्य बनेगा अपना।
चाहती न पल भर भी अब,
एकाकी यहाँ कलपना" ॥२८॥

होड़ करे पावस से दृग,
अश्रु बहे अविरल छल-छल।
भावावेग रोकने में,
बँध जाती हिचकी पल-पल ॥२९॥

गला राम का भर आया,
"तुम्हें न माँ! क्या होगा दुख ?
तुम-सी माँ का सुत होकर,
जो होऊँ कर्तव्य - विमुख ॥३०॥

"स्थिति दयनीय पिता की अति,
क्या कम उनको दुख इतना ?
क्या बीतेगी उन पर ? तव
उचित गमन कानन कितना ॥३१॥

"धीरज धर कर दो अनुमति,
उचित यही अब जँचता माँ!
शीघ्र लौट आऊँगा, क्या—
समय बीतते लगता माँ"!!३२॥

"मेरे हित तुम कर सकते,
निश्चय ही प्राण निछावर।
पिता तथा राजा के प्रति,
क्या उचित परन्तु निरादर" ?४७॥

"पिता विलासी कामी बन,
रिपु हों, आदरणीय नहीं।
राजा जो अन्याय करे,
दण्डनीय, दयनीय नहीं ॥४८॥

"कायरता—चुप रहना, निज
अधिकारों को खो देना।
पाप, महापाप मूक रह कर,
अन्याय सहन कर लेना ॥४९॥

"अयोग्य, अविवेकी नृप को,
शासन का अधिकार नहीं।
किसी व्यक्ति-जीवन से वह,
कर सकता खिलवाड़ नही ॥५०॥

"जुल्मी शासक से छीने—
सत्ता, यह अनरीति नही।
कारागृह क्या, वध कर दे,
तो वह नीति, अनीति नही" ॥५१॥

"बन्धु ! छोड़ना उचित कभी,
धर्म-नीति की लीक नही।
पिता स्त्रैण, कामुक बन, यों
करते, कहना ठीक नही ॥५२॥

"स्व-वचन-पालन उधर, इधर—
मोह पुत्र का, खीच रहे।
पिसते कर्तव्य - प्रेम के,
दो पाटों के बीच रहे ॥५३॥

"केकय - कन्या - व्याह-समय,
(तुम-हम जन्मे भी ना जब)
किया गया अधिकार नियत,
अवध-राज्य पर उसका तब ॥५४॥

"द्रुत गति घटनाएँ बदलीं,
निश्चय अब कर्तव्य यही।
भ्रम - आशंकाएँ फैलीं,
प्रभु-इच्छा, भवितव्य यही"!! ५५॥

"हूँ न भाग्यवादी कुछ मैं,
पुरुषार्थवादिता भाती।
भुज-बल पर विश्वास मुझे,
कल्पित बातें न सुहातीं ॥५६॥

"व्याह रचायें अनेक जो,
यह विलासिता ही तो है।
बिन सोचे प्रण कर डालें,
महामूर्खता ही तो है ॥५७॥

"राजनीति जागीर न कुछ,
जनता-रक्षण को शासन।
भले करे नृप कुछ भी प्रण,
तुम जनता के निर्वाचन" ॥५८॥

"तर्क ठीक तव, पर भ्रमवश,
अनुपयुक्त हम लें न क़दम।
कहीं हो न जाये जिससे,
जन-हित में परिणाम विषम ॥५९॥

"कुछ आशंका - आधारित,
दृढ़ छोटी माँ निश्चय पर।
शक्य-क्रान्ति, विद्रोह, अथच,
रण-ताण्डव विप्लव-लय पर ॥६०॥

"मात-पिता की आज्ञा फिर,
उसका भी करना पालन।
बलिदान करें निज स्वारथ,
हों अगर राष्ट्र-हित-साधन" ॥६१॥

"हों रण - चण्डी - नर्तन तो,
उसको अरि-रक्त पिला दें।
कथा अन्य की क्या, हम-तुम
मिलकर ब्रह्माण्ड हिला दें ॥६२॥

"धर्मार्थ विरोध पिता का
धर्म, - स्वत्व-रक्षा करना।
असि चमके क्षत्रिय-कर तो,
परिणामों से क्या डरना !! ६३॥

"बलवानों की दुनिया यह,
बल-सम्मुख सब झुक जाते।
आस-पास रवि के चक्कर,
नभ में ग्रह सभी लगाते ॥६४॥

" 'साम-दाम' से ना समझे,
जो नीति-अनीति न जाने।
'दण्ड' शेष, 'बातों से यदि,
लातों के भूत न मानें" ॥६५॥

"रण से मैं कब डरता, पर
रक्त बहे न अनावश्यक।
राजनीति में तो अतिशय,
दूरदर्शिता आवश्यक ॥६६॥

"बुद्धि-रहित बल-प्रयोग, भय,
ये पशुता, कायरता द्वय।
सिर अम्बर, पग धरती पर,
हों नित बल-बुद्धि-समन्वय ॥६७॥

"नृप-वचन प्रथम, अब जन-मत,
तब किसको अधिकार मिले ?
मत विभिन्न हो सकते, यों—
राष्ट्र-ऐक्य की जड़ें हिलें ॥६८॥

"पुर अशांति, गृह-कलह मचे,
दल-दल में छिड़ जायें रण।
आपस का कलह,—पड़ोसी
शत्रु-राष्ट्र को आमंत्रण ॥६९॥

"अपनों का रक्त बहाने,
होंगे वे शस्त्र उठाने।
शत्रु-नाश को, जग-हित जो,
पशुता, दुष्टता मिटाने ॥७०॥

"मानव - कल्याणार्थ बनें,
अविचार छोड़ सुविचारी।
व्यवहार अधर्मयुक्त ज्यों,
वर्जित त्यों अनर्थकारी ॥७१॥

"पशुता - सुरता का होता,
संघर्षस्थल नर - जीवन।
अन्तर्बाह्य शुद्धता से,
दैवी गुण का प्राप्ति-सदन ! ! ७२॥

"एक त्याग से मेरे यदि,
राष्ट्र - विपत्ति टले दुगनी।
जन-हित मैं फिर क्यों न करूँ ?
बलिदान बपौती अपनी ॥७३॥

"पा राज्य अचानक खोऊँ,
संभव, कुछ दैव - प्रयोजन।
लक्ष्मी तो चंचल, इसके
उलट-फेर से दुःख न मन ॥७४॥

"संकट वीरों पर आ कर,
उन्हें अधिक ही दमकाते।
अभ्र उच्च गिरि से टकरा,
पानी - पानी हो जाते ! ! ७५॥

"उपस्थित स्थिति में लगता,
अनुज ! उचित मेरा जाना।
आज्ञा दो अचित माँ ! अब,
वांछित न विलम्ब लगाना" ॥७६॥

माँ तो रोती ही थी, अब
लक्ष्मण - आँखें भी भीगीं।
द्रव जल-सिक्त धरा-आँचल,
सरसिज-पाँखें भी भीगीं ॥७७॥

कहा लषण ने भारी स्वर,
"देव ! अटल यदि तव निश्चय।
मैं भी साथ चलूंगा वन,
यह तय निश्चय, निःसंशय" ॥७८॥

कहाँ कल्पना तक इसकी,
राम चकित, नूतन उलझन।
'व्याकुल पिता, अवध सूना,
दृढ़-निश्चय लेकिन लक्ष्मण' ॥७९॥

यत्न तथापि इधर करते,
वह समझाने का असफल।
व्यथा असह मर्मातिक से,
तड़प रहे नृप उधर विकल ॥८०॥

दृढ़, कठोर बन कर बैठी,
कैकेयी कुछ-कुछ चिंतित।
भय मन—'कर दे कौशल्या,
राम-विचार न परिवर्तित' ॥८१॥

तभी जानना भी चाहा,
'प्रतिक्रिया क्या जनता की'।
मन में चल रही कशमकश,
ममता की निर्ममता की ॥८२॥

प्रजा-दशा वर्णन बाहर,
दुख-जलधि डूब उतराती।
'किम् कर्तव्य विमूढ़' बनी,
बिन आधार बही जाती ॥८३॥

देख हाल निज कुल का यों,
नभ पर रवि संतप्त हुआ।
भस्म भूमि को करने ज्यों,
आग उगलता तप्त हुआ ॥८४॥

(अनवसिता वृत्त)

शर बरसाये क्रोधित तीखे,
कण-कण मिट्टी का गरमाया।
पवन डरा-सा 'चन्द्र' छिपा जा,
तृण-तृण ज्वाला में झुलसाया ॥८५॥७४६॥

त्रयोदश सर्ग

राम-जानकी-संवाद

वन-गमन

(हरिपद-अर्धसम छन्द)

चढ़कर चोटी पर नभ-गिरि की,
उतर रहे दिननाथ।
तेज अधिक ही फैला जग में,
उनके तप के साथ ॥१॥

धीरे-धीरे जाते मानों,
पश्चिम - कानन - ओर।
स्तम्भित पादप, पवन सिसकता,
विहग न करते शोर ॥२॥

द्रुम नव-पल्लव-युत कुछ, कुछ पर
लदे मौर, फल, फूल।
सूना लगता पंछी बिन, ऋतु
यद्यपि आनँद - मूल ॥३॥

लता मृदुल, कमनीय विटप पर,
प्रात रही जो झूल।
तीक्ष्ण घाम से कुम्हलाई अब,
दिवस हुआ प्रतिकूल ॥४॥

'प्रातः जाकर लौटे अब तक,
क्यों न आर्य सुत धीर ?'
सोच-सोच कर अधिक जानकी,
होने लगी अधीर ॥५॥

विस्तृत वार्ता मिली न यद्यपि,
भनक पड़ी कुछ कान।
'सत्य-असत्य, निराश-आश' पर,
झूले, उसके प्राण ॥६॥

पल भीतर, पल बाहर पल-पल,
अस्थिर जाती द्वार।
बिछी भीगतीं पथ पलकें पल,
पल दिखतीं लाचार ॥७॥

युग-युग-से पल, चल चंचल मन,
उठें अनेक विचार।
शीश नवा पिय-कुशल मनाये,
हरिपद बारम्बार ॥८॥

हुई जानकी-अस्थिरता की,
यों जब सीमा शेष।
सहज, शांत चित किया राम ने,
उसके भवन प्रवेश ॥९॥

उर लग, रख सिर कंध, निहारे—
अपलक पिय - मुख - चन्द।
सजल दृगों में प्रश्न मूक, प्रभु,
निर्विकार, निर्द्वंद्व ॥१०॥

हुए प्रेम की देवी को लख,
अस्थिर कुछ रघुनाथ।
सहज गया कंधे पर बायाँ,
दायाँ सिर पर हाथ ॥११॥

पल भर हो ही गए तनिक वे,
आखिर धीर अधीर।
पड़े झलक ही दो मोती तब,
दृग - सीपी के तीर ॥१२॥

फिर तुरन्त हँसते-से बोले,
"प्रिये ! न कोई बात।
दिये पिता ने माँ को वर कुछ,
हम जिनसे अज्ञात ॥१३॥

"उन्ही प्रणों को रखने जाता,
कुछ दिन को वन आज।
यहाँ नहीं तो वही सही अब,
होगा मेरा राज ॥१४॥

"होना न अधीर विरह में तुम,
यह कुछ दिन की बात।
जल्दी लौटूं, बनी रहेगी,
स्मृति उर तव दिन-रात ॥१५॥

"मेरी अनुपस्थिति में तुम नित,
रखना सब का ध्यान।
होवे न अभाव-जनित मेरा,
माँ को दुख का भान ॥१६॥

"व्यथा पिता को होगी दुहरी,
अपयश, पुत्र - वियोग।
संभव, उसमें अधिक रहेगा,
मनस्ताप का योग ॥१७॥

"और अधिक मन दुखे न उनका,
रखना ध्यान विशेष।
करना न भरत-सम्मुख भूले,
मम यश-गान विशेष" ॥१८॥

भरने सीता लगी सिसकियाँ,
हुआ राम-उर सिक्त।
झड़ी लगी, पर न मोतियों का,
कोष हुआ, कुछ रिक्त ॥१९॥

फिर धर धैर्य, नम्र, दृढ़तायुत,
बोली — "प्राणाधार !
आदेश, विचार आपके शुचि,
उचित, समय - अनुसार ॥२०॥

"पर क्यों वन हतभागी छोड़ूँ,
पाया अवसर आज !
वन में केवल नहीं 'आपका',
होगा 'अपना' राज ॥२१॥

"मैं अर्द्धांगिनि, न क्या मेरा,
फिर कोई अधिकार ?
राज्य अकेले भोगेंगे क्या,
मेरे जीवाधार" !२२॥

"तुम जो होगे राजा तो मैं,
हूँगी रानी नाथ !
छोड़ सकेंगे यों न अकेली,
रहे किंकरी साथ ॥२३॥

"मात-पिता-प्रति कहे आपके,
नव्य, भव्य मन्तव्य।
बहन उर्मिला पूर्ण करेंगी,
निश्चय सब कर्तव्य" ॥२४॥

हुई उपस्थित नई समस्या,
विस्मित, विचलित राम।
किसी तरह समझाया माँ को,
कठिन किन्तु अब काम ॥२५॥

'लषण-सदृश अड़ जाये यह भी,
तो कसे निस्तार ?
हाल पिता का होवेगा क्या ?'
मथते हृदय विचार ॥२६॥

"पिता मृत्यु-शैया पर सुभगे !
माँ को दुःख अपार ।
बीतेगी उन दोनों पर क्या,
यह तो करो विचार ॥२७॥

"मात-पिता तड़पे, भटको तुम
वन-वन मुझे न प्रेय ।
लूँ मैं ही क्या यों रघुकुल के
सर्वनाश का श्रेय ? ॥२८॥

"कुछ कारणवश मिला, मुझे वन,
वने तुम्हें क्यों भोग्य ?
नवल कमल-दल-सम सुकुमारी,
तुम वन जाने योग्य ? २९॥

"बीहड़, दुर्गम पथ कानन का,
कंकड - कंटक - युक्त ।
हरियाली गड़ जायें जिनमें,
ये पग वन-उपयुक्त ? ३०॥

"वर्षा, आतप, हिम दुस्सह सिर,
नव - पल्लव - सी देह ।
माँ तो माँ ही, पर 'विदेह' भी,
जायें काँप विदेह ॥३१॥

"कहीं खड़े पथ रोके होंगे,
ऊँचे शैल विशाल ।
कहीं उमड़ते निर्झर, नाले,
नद, नदियों के जाल ॥३२॥

"कई भयंकर पशु भी होंगे,
व्याघ्र, मतंग, वराह।
भालु, भेड़िये, गेंडे, अरणे,
कपि, चीते, मृगनाह ॥३३॥

"दहाड़ ही सुन कर जिनकी तुम,
होवोगी भयभीत।
वृश्चिक, सर्पादि विषैले भी,
होंगे जंतु अमीत ॥३४॥

"वल्कल वस्त्र, शीत, क्षिति शैया,
रजनी तिमिराच्छन्न।
मानव-भक्षी निशिचर होंगे,
जहाँ - तहाँ प्रच्छन्न ॥३५॥

"खाने को बस कन्द, मूल, फल—
कभी, कभी वह भी न।
अकथ कष्टमय कानन-जीवन,
सुविधा - साधन - हीन ॥३६॥

"करो न यों हठ सुमने ! मानों,
स्वस्थ रहो तुम गेह।
स्मृति तव मेरा बल, लौटूंगा,
जल्दी निस्सन्देह" ॥३७॥

चरण-कमल सीता ने पकड़े—
"हे मेरे आराध्य !
प्रथम शमन शंकाएं कर दो,
करो मुझे फिर बाध्य ॥३८॥

"कल तक कहते रहे 'पुरुष' की,
जिस 'नारी' को शक्ति।
आज अशक्त हुई क्या वह ? क्यों,
उससे हुई विरक्ति ? ३९॥

"किया चाहते वन-कष्टों को,
कह, किसको भयभीत ?
लिया नहीं क्या कभी हमीं ने,
निर्मम यम को जीत ?॥४०॥

"क्या न दुःख की, सुख की साथी ?
क्या मैं तुमसे भिन्न ?
सुख-दुख जो तुम्हें, मुझे भी वह,
तन दो, प्राण अभिन्न ॥४१॥

"पिता-वचन-पालन या पूजन,
हो तप अथवा यज्ञ।
अर्द्धांगिनी बिना न अधूरे ?
कहो तुम्हीं, तुम तज्ञ ॥४२॥

"भय क्या वन में साथ आपके ?
होगा कुछ तो इष्ट ?
द्रुम, कुसुम, सरित, सर, निर्झर-जल,
कन्द, मूल, फल - मिष्ट ॥४३॥

"कीर, सारिका, कुरच, कपोती,
कोकिल, सारस, मोर।
क्रीड़ा-रत खग-विहग मगन मन,
अति आनन्द - विभोर ॥४४॥

"मिले स्नेह मुनि-दाराओं का,
ऋषि - मुनि आशीर्वाद।
मृगदल मन-रंजन को तत्पर,
वन में भी आह्लाद ॥४५॥

"जंगल में हो सकता मंगल,
मन का हो यदि योग।
वन में दुख कितने ही हों, पर,
पति का नहीं वियोग ॥४६॥

"पति न तो न गति, बिना आपके,
मुझ नरक ही स्वर्ग।
पति ही गति-मति, रहें आप तो,
मुझे नरक भी स्वग ॥४७॥

"अस्वीकृति का प्रश्न न किंचित,
फिर होता प्राणेश!
दासी, किन्तु मुझे पत्नी के,
क्या अधिकार न लेश ? ४८॥

"मेरा भी तो प्राणनाथ! है
व्यक्तित्व कि कुछ तत्व।
पति-सँग रहूँ, मरूँ या, मुझको
इतना तो हो स्वत्व" ॥४९॥

बोल न सीता अधिक सकी, नत,
हुए निरुत्तर राम।
"नारी धन्य, तर्क हारे सब,
चलो, अमर हो नाम" ॥५०॥

'नारि-नारि में कितना अंतर!'
जब तक, सोचे राम।
पहुँचे तब तक अनुमति माँ की
ले, लक्ष्मण अभिराम ॥५१॥

वस्त्र बदल कर जब तक होवें,
तीनों ही तैयार।
प्रजा बनी दीवानी आई,
दौड़ी उनके द्वार ॥५२॥

"नहीं, नहीं हम होने देंगे,
ऐसा कभी अनर्थ।
कर लें नृप यों मनमानी तो,
जन-मत का क्या अर्थ ? ५३॥

"करे भाग्य का अपने निर्णय,
जनता को अधिकार।
कर न सके उन अधिकारों से,
राजा भी खिलवार ॥५४॥

"शक्ति देश की प्रजा वस्तुतः,
निरे न जड़ हथियार।
चाहे जिसको जनता देवे,
शासन के अधिकार ॥५५॥

"पौर-जानपद करे नियत जो,
करके पूर्ण विचार।
प्रमदा-हठ-वश कर सकते नृप,
क्या उससे इनकार ?५६॥

"पहले इसके कि राम जायें—
वन, कोशल को छोड़।
पट जाये पुर-जन-लाशों से,
इस धरती का क्रोड़" ॥५७॥

"शान्त वन्धुगण !" कहा राम ने,
"यों उत्तेजित हों न।
प्रेम आपका अतुल, ऋणी मैं,
करो मोह-वश यों न ॥५८॥

"जाता दुर्बल-सा न रूठ कर,
किया न कोई पाप।
धर्मच्युत यों तुच्छ राज्य-हित,
कहो, बनूं मैं आप ?५६॥

"पिता-वचन ठुकरा दूं क्या मैं ?
स्वार्थ-हेतु ? क्या धर्म ?
असद्वस्तु-हित उचित असत् पथ ?
कर्म अयुक्त ? अधर्म ?६०॥

"भरत योग्य, गुणवान, उसे तुम,
पाओगे अनुरूप।
नृप का भी प्रस्ताव यही, वह
मेरा ही प्रतिरूप" ॥६१॥

कहा प्रजा-प्रतिनिधि ने—"फिर यह,
अवध विपिन बन जाय।
जहाँ राम [हम वहीं रहेंगे,
अवध विपिन बन जाय ॥६२॥

"इस उजाड़ निर्जन धरती पर,
भरत करें फिर राज्य।
हों जिसके अन्याय नींव में,
राज्य हमें वह त्याज्य" ॥६३॥

"निहित अहित कोशल का इसमें,
करो न अनुचित कर्म।
करूँ पुत्र का मैं, पालन तुम,
करो प्रजा का धर्म ॥६४॥

"दो उत्साह कि कर पाऊँ निज,
पालन दृढ़ कर्तव्य।
कण्टक कानन के बन जायें,
कलित कुसुम ही नव्य" ॥६५॥

इधर मंथरा से पा रानी,
जन - अशान्ति - संवाद।
दृश्य अटा चढ़ देखा, क्षण भर
मन में हुआ विषाद ॥६६॥

'प्रेम उमड़ता कितना, सचमुच
जन - जन प्यारे राम।
झोंक रही मैं ज्वाला में क्या,
इन्दीवर अभिराम ! ! ६७॥

'किन्तु यही तो भय, जनता का
अतुल राम पर प्रेम।
पड़ न कहीं ख़तरे में जाये,
सरल भरत का क्षेम ॥६८॥

'फिर उनका क्या, होते नित जो,
सीमा पर उत्पात !
उचित, राष्ट्र-हित रखनी दृढ़ता,
तज कर ममता स्यात ॥६९॥

"संभव यह भी,—छोड़ न पाये,
राम राज्य का मोह।
अमित, संगठित, उनसे प्रेरित,
प्रजा करे विद्रोह ॥७०॥

'राजाज्ञा-विपरीत लोग यदि,
अपनायें गति वक्र।
विवश कुचलना होगा उनको,
चला दमन का चक्र ॥७१॥

'उठा कौन सिर सकता देखें,
शासन - शक्ति - विरुद्ध।
मचा प्रलय भी सकती जग में,
नारी हो कर क्रुद्ध' ॥७२॥

सोच रही जब कैकेयी यों,
प्रजा - घिरे निष्काम।
आये नमन पिता को करने,
लषण, जानकी, राम ॥७३॥

"राज्य भरत-हित छोड़ चले हम,
कानन अवधाधीश !
अनुगामी ये दोनों, दीजे
इनको भी आशीष" ॥७४॥

दशरथ तो हो रहे प्रथम ही,
हृत, जड़वत, निस्पन्द।
गत-चेतन-से, होने अब तो,
लगी हृदय-गति मन्द ॥७५॥

'उचित न रुकना अब' विचार कर,
करके विनत प्रणाम।
चले नवा सिर माताओं को,
सिया, अनुज सह राम ॥७६॥

सह सके न अब तो, बस कहते,
नृप गिर पड़े 'धड़ाम'।
"हा लक्ष्मण! बेटी वैदेही!
राम! राम! हा राम!!"७७॥

काँपे सब, गिर पड़ीं रानियाँ,
पछाड़ खा कर हाय!
कवि की जाती काँप लेखनी,
वाणी भी थर्राय!!७८॥

मूक, विमूढ़ा-सी कैकेयी,
तन-मन-दशा विचित्र।
भाव-शून्य, चेतना-शून्य-सी,
ज्यों रेखांकित चित्र ॥७९॥

नीरव, फटी-फटी-सी आँखें,
तनिक न अश्रु-निपात।
स्फटिक-मूर्ति-सी खड़ी, गिरी फिर,
ज्यों लतिका उत्खात ॥८०॥

(निवास वृत्त)

प्रभ-हत अब अस्तमान सूर्य,
खग-विहग विलाप-मग्न व्यग्र।
पवन सिसकता, उदास वृक्ष,
प्रकृति व्यथित 'चन्द्र' हा! समग्र ॥८१॥८२७॥

चतुर्दश सर्ग

भरतागमन

(सुमेरु छन्द)

विभव - भा - युत, प्रखर-तर-तेज शाली।
हुए निस्तेज - से वे अंशु-माली॥
किरण सोई सुमेरु-शिखर, गगन पर।
दिखाती अब उदासी-सी वदन पर॥ १॥

दिवस-अवसान में कुछ समय बाकी।
किये सुस्पर्श रज कोशल-धरा की;
रथस्थित निज विचार-प्रवाह बहते,
तभी शत्रुघ्न से यों भरत कहते॥ २॥

"अनुज यह आ गई साकेत नगरी।
महत् रघुकुल - पताका पुण्य - गगरी॥
न जाने क्यों प्रवेश परन्तु करते।
हुआ जाता विकल मन, नयन भरते॥ ३॥

"धरा नत आज भी संध्या सदा-सी।
छटा के स्थान छाई पर उदासी॥
किरण अरुणिम न क्यों आनन्द देती?
हवा भी सिसकियाँ क्यों मौन लेती? ४॥

"प्रतीची-मुख न मुदमय भाव जगते।
विहग भी व्यथित करते रुदन लगते॥
विटप सब मौन रह-रह सिर हिलाते।
कि शंका-जनित भय से काँप जाते॥ ५॥

"इधर बिखरी लगे रक्ताक्त लाली।
उधर छितरी घटा कुछ व्योम काली॥
लिये यों घुटन-सी कुछ वायु-मण्डल।
न जाने क्यों लगे संध्या अमंगल!! ६॥

"वहे सरयू सिहरती, घाट सूने।
द्रवित तट, दलित उठते भाव दूने॥
अरुण गगनांगना प्रतिविम्ब लखती!
कि 'धू-धू' सरित-उर होली सुलगती!! ७॥

"दिखाते क्यों न कोई जन विचरते?
न वालक खेलते - लड़ते - झगड़ते॥
डगर कोई न नव वाला मचलती।
नगर में छा रही यह शांति खलती॥ ८॥

"प्रतीची-मुख हुआ जाता अरुणतर।
दुखी हों भानु का ज्यों पतन लख कर॥
प्रकृति-कण-कण रहा हो विमन भासित।
कि निज मन ही विकल, अस्थिर कदाचित्॥ ९॥

"पिता की रुग्णता का वृत्त सहसा।
मिला आचार्य से मन को असह-सा॥
न जाने तात कैसे? हृदय चंचल।
करें भगवान सब ही कुशल-मंगल" ॥१०॥

अचानक सोच कर यह देह सिहरी।
कि चिंता-रेख उन्नत भाल उभरी॥
हुए यों भ्रात दोनों अनमने-से।
लगे पल-पल उन्हें युग-से बने-से॥११॥

रहे खोये उभय इस ध्यान में जब।
चपल रथ निकट पहुँचा सौध के तब॥
वहाँ केवल विनत लख मौन प्रहरी।
हुई शंका व चिंता और गहरी॥१२॥

उतर रथ से चले फिर यंत्र-से वे।
हुए अति विचल अन्यमनस्क-से वे।।
सहमते अम्ब के जा कक्ष देखा।
जननि - मुख मिश्र हर्ष-विषाद - रेखा।।१३।।

छुए पद-पद्म दोनों ने झुका सर।
दिया आशीष माँ ने उर लगा कर।।
"पिता का स्वास्थ्य कैसा माँ ? कहाँ वे ?
चलो, दर्शन करूँ उनके जहाँ वे" ।।१४।।

हुईं ये शब्द सुनते विनत पलकें।
रुके रोके न, बरबस अश्रु ढलके।।
रही कुछ देर फिर वह मौन तकते।
वचन निकले तनिक रुकते-अटकते।।१५।।

"न कोई लौटता, उस ठौर स्वामी।
हुए हा वत्स ! वे तो स्वर्गगामी" ।।
पड़े अम्बांक में वह गिर विकल यों।
गिरे ढह ताश का सहसा महल ज्यों।।१६।।

हुआ जब चेत, न रुकी अश्रु-धारा।
रुदन से भर गया ज्यों कक्ष सारा।।
सिवा तब सिसकियों के, हिचकियों के।
रहा कुछ भी न, कण्ठ रुँधे सबों के।।१७।।

गिरा सविलम्ब निकली भरत-मुख यों।
"हुए क्यों तात हमसे माँ विमुख यों ?
कहाँ अवलम्ब सबके अम्ब ! वे अब !
बुलाये हम गये बस विलखने अब ? १८।।

"हुआ उनको विषम क्या रोग ऐसा ?
रुचा जिससे अमरपुर - भोग ऐसा ?
कि वे हमको गए देखे बिना ही।
गया आखिर हमारा सब छिना ही" ।।१६।।

"कहाँ परिणाम से अवगत रही तव ?
कहूँ क्या वत्स ! मैं जड़ रोग की सव ।।
समझ मैंने उचित जो कुछ किया जव ।
कहाँ इसकी मुझे टुक कल्पना तव !! २०।।

"वनी जड़ स्वार्थिनी, पति-घातिनी मैं !
हुई हा हन्त ! आप अभागिनी मैं !!"
कहो ऐसा न माँ ! मन और दुखता।
नियति-गति कुटिल, मानव विवश झुकता ।।२१।।

"रहा जिनसे कभी यम भीत विचलित ।
समय का फेर, वे अव काल-कवलित !!
उन्हें लख रोग से निर्वल, अचानक—
किया आघात क्या यम ने भयानक" ? २२।।

"समझ लें विधि-विधान-विडम्वना मन ।
हुआ वह, कुछ न जिसकी भावना मन ।।
न चलता वश, यहाँ परवश सभी तो ।
कि सव उस मार्ग पर 'जाते कभी तो" ।।२३।।

"न सेवा कर सके कुछ हम पिता की ।
समेटें राख ही हा ! क्या चिता की ?"
"हुआ सो तो हुआ, धीरज धरो अव ।
उचित, जो कार्य सम्मुख, वह करो अव" ।।२४।।

तनिक उनको न फिर भी धीर वँधता ।
नयन वस अश्रु, रह-रह कण्ठ रुँधता ।।
रुदन अति कर चुके जव भ्रात दोनों ।
हुए वहु यत्न कुछ-कुछ शांत दोनों ।।२५।।

"महत् सव कार्य स्वामी कर चुके जग ।
धरा क्या, गगन छाया सुयश जगमग ।।
हुई घटना न एक अनर्थकारी ।
पड़ा यद्यपि चुकाना मूल्य भारी" ।।२६।।

"न समझा अर्थ, कौन अनर्थ भारी ?
चुकाया मूल्य जिसके अर्थ भारी ।।
रहे आदेश उनके गहन क्या-क्या ?
कहे अन्तिम पिता ने वचन क्या-क्या ?" २७।।

"सिया को, लषण को, करते स्मरण वे ।
किये 'हा राम !' कहते ही गमन वे ।।"
कहाँ थे आर्य, आर्या, लषण भी तव ?
हुए क्यों तात उनके हित दुखी तव ?" २८।।

"गए वे वर्ष चौदह के लिए वन ।"
"गये वन ? क्यों" भरत शंकित हुए मन ।।
"हरा धन आर्य ने बलयुत किसी का ?
दुखाया मन अकिंचन-जन-दुखी का ? २९।।

"प्रमाद किया कहीं कुल-कानि भूले ?
किया अपमान बुधजन का न भूले ?
कहीं छीना परस्त्री - शील - पावन ?
मिला फिर दण्ड किस अपराध कानन ?" ३०।।

"किया ऐसा न कोई काम अनुचित ।
हुए न प्रमाद-वश भी राम किंचित ।।
मिली जब मंथरा से बात गोपन ।
तुम्हें अभिषेक माँगा, राम को वन" ।।३१।।

भरत कुछ भी न समझे, क्या हुआ यों ।
उबलता शीश कानों में गिरा ज्यों ।।
रही आँखें फटी-सी, अधखुला मुख ।
हृदय निस्पन्द, मानों प्रलय-आमुख ।।३२।।

रहे निश्चेष्ट वह यों कुछ पलों तक ।
जगी फिर चेतना मानों अचानक ।।
ठिठुरते शब्द निकले 'भाग्य फूटे' ।
गिरे क्षिति भरत, ज्यों सिर वज्र टूटे ।।३३।।

लगा सविलम्ब जब कुछ चेत आने।
वदन कंपित लगा तब तमतमाने॥
तड़प कर सिर लिया निज ठोंक कर से।
अधर फड़के नयन अंगार बरसे॥३४॥

"किया कैसा महान अनर्थ तूने!
स्वकुल का नाश निठुरे व्यर्थ तूने!!
जननि मेरी कि वैरिन घातिनी तू?
कुनारि, पिशाचिनी, संघातिनी तू?३५॥

"तनय हतभाग्य मैं, तू अम्ब मेरी।
गिरी गलकर न क्यों तब जीभ तेरी?
रहा यह जो अनिष्ट अभीष्ट तेरा।
गला क्यों जनमते घोंटा न मेरा?"३६॥

"कहे कुछ विश्व, माँ को जान तू तो।
हठी बेटे, न कर अवमान तू तो।
लिया तव स्वत्व ही दूजा लिया क्या?
बुरा इसमें तनिक मैंने किया क्या?३७॥

"नियत जब राज्य पर अधिकार तेरा।
उधर कुछ भी न किन्तु विचार मेरा॥
तिलक को राम के पर भूप तत्पर।
कुचक्र रचा हमें अनजान रख कर॥३८॥

"सभय आ मंथरा ने जब बताया।
विषम षडयंत्र का तब भेद पाया॥
तुम्हें रामाम्ब ने ननिहाल भेजा।
कपटयुत फिर तिलक सुत का सहेजा॥३९॥

"समय पर यदि न वर दो माँग लेती।
विमाता क्या न जाने त्रास देती!!
मुझे चिंता नहीं लवलेश मेरी।
अभीप्सित नित मुझे तो कुशल तेरी॥४०॥

"प्रकट षडयंत्र जब यों प्राण-हारा।
सिवा इसके रहा क्या और चारा?
कि माँगूँ मंथरा-मत राज्य तव-हित।
रहे वन राम, इसमें निहित तव हित ॥४१॥

"हृदय यदि पुत्र की ममता सँजोई।
बनी जो माँ, किया क्या पाप कोई॥
तजे 'माँ' प्राण, यदि हो भय सुवन को।
समझता काश, कोई मातृ-मन को!!४२॥

"न इसकी स्वप्न में भी कल्पना तव।
समझ पायी विषम परिणाम ना तव॥
तजेंगे नाथ पीड़ा मन सँजो कर—
अचानक स्वर्ग के यों पथिक हो कर!!४३॥

"रहा कुछ और शुचि उद्देश्य भी तव"।
"अरी चुप! बंद अब बकवास कर सब॥
चहे जो राज्य, क्या यह ही धरा पर?
न तेरा पुत्र कुछ असमर्थ, कायर ॥४४॥

"अगर यों मोह तुझको राज्य का ही।
नया कोसल बसा देता धरा ही॥
परन्तु विमूढ़ तूने खा लिया हा!—
स्व-पति को ही, स्व-कुल स्वाहा किया हा!!४५॥

"न जाने भाव मेरे राम के प्रति?
हुई यों क्यों तुझे जाने न दुर्मति?
प्रथम तो नारि, चेरी-मत चली फिर।
करेली-बेल, नीम-शिखर चढ़ी फिर ॥४६॥

"तुझ माँ से अधिक निज राम माने।
मुझे प्रिय अनुज, यह क्या तू न जाने?
सजल-घन-श्याम को जब विपिन भेजा।
हुआ टुकड़े न क्यों तेरा कलेजा?४७॥

"गई आर्या न तब भी लाज आई।
गए वन साथ लक्ष्मण, धन्य भाई॥
सनेही, सुहृद, सदया ज्येष्ठ माता।
कपट उनके निकट कब फटक पाता ?४८॥

"दिखा तुझको कपट सबमें भरा रे!
बुरा जो आप तो सब जग बुरा रे!!
कटा निज नाक असगुन की स्वयम् का।
लगा अपयश-तिलक माथे जनम का॥४९॥

"रहा कर 'पुत्र-माँ' का विवश नाता।
रुधिर से तात को तर्पण कराता॥
लगाया भाल व्यर्थ कलंक-टीका।
मिटे न कभी, कभी जो हो न फीका॥५०॥

"विपिन अग्रज, पिता सुरधाम जाये।
उचित क्यों माँ! भरत यों राज पाये?
भला इससे, पिता के पास जाऊँ॥
न देखूँ तब न अपना मुख दिखाऊँ॥५१॥

"यही तो नीति, रघुकुल-रीति भी नित।
बड़े जो, राज्य-अधिकारी वही नित॥
न केवल खान आर्य सभी गुणों की।
पुरुष हों यों तपस्या से युगों की॥५२॥

"बड़ी माँ ने सदा सस्नेह पाला।
दिखाऊँ मुँह उन्हें किस तरह काला॥
प्रजा थूके, कहे क्या जगत सारा।
बना उत्पात-जड़, बे मौत मारा॥५३॥

"न जाने क्यों हुए ऐसे अजाने।
अनर्थक जो पिता तव बात माने॥
हुई तू आर्य-वंश-कलंक ऐसी!
सुहाग स्वयम् मिटाये, नारि कैसी!!५४॥

"अवध लौटें, विनय मेरी सुनेंगे—
सुनिश्चित, राज्य अग्रज ही करेंगे।।
अपूर्ण न तात का भी प्रण रहेगा।
अवध भैया, भरत कानन रहेगा" ।।५५।।

विहँसती मंथरा खल कुटिलता से—
तभी आई नचा दृग चपलता से।।
कभी के चुप भरे शत्रुघ्न बैठे।
नसें उभरीं, वदन के तंतु ऐंठे ।।५६।।

कसीं फिर कूब पर दो-चार लातें।
गिरी शठ चेरि औंधी लड़खड़ाते।।
लगा बहने रुधिर भी नासिका से।
"बनी अभिभाविका परिचारिका से" ? ५७।।

"किया क्या ? राज्य ही मैंने दिलाया।
उसीका हाय ! यह उपहार पाया !!"
लगी वह सिसकने, रोने, बिलखने।
तभी शत्रुघ्न को टोका भरत ने ।।५८।।

"अनुज ! छोड़ो उसे, क्यों रोष उस पर ?
कनक में खोट अपने, दोष किस पर ?
न क्यों मिट जायँ संस्था 'राज्य' नामक ?
समस्त अनर्थ-जड़, उत्पात-कारक ।।५९।।

"अकारण वैर आपस में कराये।
सहस्रों 'राज्य' पर लानत भिजायें।।
चलो, हम ज्येष्ठ माँ के पास जायें।
पदों में अश्रु उनके जा चढ़ायें" ।।६०।।

सिसकती मंथरा तो अधमरी-सी।
ठगी-सी केकई सरबस-हरी-सी।।
हुई दयनीय-सी उसकी दशा अब।
हिरन सब हो गया उसका नशा तब ।।६१।।

रही अब तक बनी वह मौन पत्थर।
बही अविरल विमल जल नयन-निर्झर ।।
तरल बन बह गया मल सकल धुल, गल।
हुआ मानस मुकुर-सा स्वच्छ, उज्वल ।।६२।।

हृदय गत मंथरा का ज़हर उतरा।
विगत सब दृष्टि-सम्मुख दृश्य उभरा ।।
गिरा जब कल्पना का महल ढह कर।
गिरी "हा राम ! हा प्राणेश !" कहकर ।।६३।।

उधर लेटी विनत महिषी धरा पर।
ग्रसित ज्यों राहु से राका-सुधाकर ।।
घटा-से अलक भी बिखरे वदन पर।
गिरे "ओ माँ !" भरत कहते चरण पर ।।६४।।

नयन-जल-धार माँ के चरण धोये।
जननि-दृग-जल भरत-मस्तक भिगोये ।।
पड़े रो फूट-फूट दहाड़ मारे,
"कहाँ माँ ! हा सहारे अब हमारे !! ६५।।

"उपस्थित भरत अपराधी, असित मुख।
सकल उत्पात का यह मूल सम्मुख ।।
इसे माँ ! दण्ड निश्चय सबल दे दो।
नहीं लेकिन घृणा, तुम गरल दे दो ।।६६।।

"अधम मैं, आर्य का वनवास-कारण !
सुकृत-हत, व्यर्थ मानव देह धारण !!
पिता की मृत्यु का कारण बना मैं !
मरा क्यों ना जनमते विष-सना मैं ।।६७।।

"विमल रवि-कुल-कलंक, कलुष-कलापी !
पतित, षडयंत्रकारी, घोर, पापी !!
नहीं निस्तार, कैसे अघ-निवारण ?
अभागा मैं बना गृह-कलह-कारण !! ६८।।

"प्रजा का, सृष्टि का जब इष्ट होता।
अनिष्ट विनष्ट, राज्य अभीष्ट होता।।
गया बन भरत उल्कापात ही तब।
सदेह विनाश, स्वकुल-निपात ही तब।।६९।।

"कभी न कलंक यद्यपि यह सके धुल।
करें विश्वास, मैं अनभिज्ञ बिलकुल।।
तनिक यों मन कभी सोचा न सपने।
करूँ कैसे हृदय को प्रकट अपने!!७०।।

"कभी यों भूल कर भी यदि कहा हो।
तनिक अभिसंधि में मम मत रहा हो।।
पड़ी हो यदि श्रवण इसकी भनक भी।
मिले ना ठौर तो मुझको नरक भी।।७१।।

"प्रकट तो स्पष्ट ही कलुषित कथा मम।
समझता कौन पर अन्तर्व्यथा मम?
जले दीपक परन्तु प्रकाश तिरता।
जलूं मै भी, धुआँ ही भाग्य घिरता" ।।७२।।

"किसी अभिसंधि में होवे भरत-मत!
असंभव, अमिय में होवे गरल-सत।।
न देकर जन्म जननी जान पाई।
तुझे मैं भी न क्या पहचान पाई?७३।।

"जुड़ा आ अंक मम, तू राम मेरा।
वही गुण, रंग, अपर बस नाम तेरा।।
किया यदि केकई ने मोह सुत का।
बुरा क्या, न किसको लोभ सुत का।।७४।।

"अनघ! तुझको कभी अघ छू न सकता।
रहे तेरा सुयश-सौरभ महकता।।
अमरपुर प्रकट स्वामी पर करूँगी।
रही चिर-संगिनी, अब भी रहूँगी।।७५।।

"तुम्हें जो राज्य कोशल का दिया, लो।
प्रजा का भार बेटा ! लो, सँभालो" ॥
"रहेगा राज्य क्या पीछे पड़ा ही ?
असह क्या शूल यह उर में गड़ा ही ?" ७६॥

"पिता को अग्नि दे, ऋण-मुक्त होवो।
सती मैं, 'दण्ड' से तुम युक्त होवो" ॥
"न कहिये यों, मुझे दे दो हलाहल।
न छीनो किन्तु अपना चरण-सम्बल ॥७७॥

"नहीं मैं, राज्य अग्रज ही सँभालें।
रहो माँ ! तव अभाव-विचार सालें ॥
विपिन जाऊँ, यही केवल अभीप्सित।
चरण धर आर्य को लाऊँ सुनिश्चित" ॥७८॥

"बहुत छीना, सु-जीवन - सार दे दो।
सती होऊँ, मुझे अधिकार दे दो ॥
पतित मैं अति, बहन ! तुम अमित दानी"।
चकित वे केकई की श्रवण वाणी ॥७९॥

"कहूँ किस मुख, 'नहीं कुछ स्वार्थ मेरा'।
किया घर में स्वयम् ने जब अँधेरा ॥
न मुझको शांति मर कर भी कदाचित—
मिले," अटके वचन, दृग-जल प्रवाहित ॥८०॥

(कामना वृत्त)

सिहरती तारिका रही।
सिसकती-सी हवा बही ॥
विपुल मोती सुधा भरे।
नयन से 'चन्द्र' के ढरे ॥८१॥९०८॥

पंचदश सर्ग

चित्रकूट-गमन

(चौपई छन्द)

अथक निशा में चलते मौन,
विमल वहाते दृग - जल - बिन्दु ।
रवि - हित गए प्रतीची भौन;
व्यथा सँजोये अन्तर इन्दु ।।१।।

गये सभी तारे भी साथ,
बदला नभ - नगरी का रंग ।
निखरी आभा प्राची - माथ;
लिये अरुण मन आश, उमंग ।।२।।

चले निविड़ सब अपने छोड़,
विहग झुंड के झुंड विशाल ।
तजकर नलिनी माँ का क्रोड़;
लगे मचलने अब अलि - बाल ।।३।।

चली उषा भी ले मन आश,
हो कर समीर - रथ - आसीन ।
बस धुन एक, एक अभिलाष;
बने सभी रवि - जल के मीन ।।४।।

ले हय, गज, सेना, रथ, यान,
भरत सहित साकेत समाज।
चलते जाते रघुवर - ध्यान;
ले कर साथ तिलक का साज़ ॥५॥

लिये एक धुन, एक विचार,
चलते वासर, निशि विश्राम।
पथ में पा कितनों का प्यार;
पहुँचे चित्रकूट अभिराम ॥६॥

इधर उटज से थोड़ी दूर,
विमल - यशा वैदेही साथ।
हास्य - विनोद - मोद - भरपूर;
चलते चले गए रघुनाथ ॥७॥

"प्रकृति विलोकनीय अमिताभ,
छटा प्रिये! मनहर रमणीय।
प्राची नव-शिशु-रवि रक्ताभ;
लघु किरणों कोमल कमनीय ॥८॥

"देखो बहती धनुषाकार,
मन्दाकिनी रुचिर गति मन्द।
स्थिर कहीं, कहीं चक्राकार;
चलती अल्हड़ - सी स्वच्छन्द ॥९॥

"रुनझुन कहीं थिरकती चाल,
मधुमय कोकिल - सुर - संधान।
पवन बाँसुरी, पल्लव ताल;
अलि! जाता मन खिंच अनजान ॥१०॥

"लाल, नील, सित पद्म-निकुंज,
दल - दल कोमल किरण-विलास।
मचल-मचल उड़ते अलि - पुंज;
सुभग! तितलियों का कल रास ॥११॥

"शुभ्राच्छादित सारस, हंस,
पवन - प्रताड़ित पल्लव तुच्छ।
खग-चर्वित मधुफल के अंश;
वहते कल कुसुमों के गुच्छ ॥१२॥

"लघु-खरहा, सियार खुर्राट,
कुलांच-युत हिरनों के झुंड।
पीते नीर एक ही घाट;
व्याघ्र, रीछ, कपि, सिंह, वितुंड ॥१३॥

"वे देखो वट छायादार,
पीपल पावन चिकने पात।
बाँस खड़े ज्यों पहरेदार;
वेत मोहिनी तन्वी गात ॥१४॥

"खड़े नीम वे रोग - अरिन्द,
महुआ मदिर, पलाश गुलाल।
जामुन ज्यों 'अरविन्द - मलिन्द';
कटहल, बेल, कदम्ब विशाल ॥१५॥

"शुक - क्रीड़ित अमरूद, अनार,
घने बौर से लदे रसाल।
धन्वन, तिन्दुक, जौ, कचनार;
बेर, आँवला, सफल प्रियाल ॥१६॥

"सुमन सु-मन शुचि रहे बिखेर,
तव-हित सुमने ! सुरभि विशेष।
शोभा - सीस शोभने ! मेरु;
यह भव - वैभव-मय सविशेष" ॥१७॥

सिया सलज सस्मित, दृग वंक,—
"प्रभु-तन लख कर शोभा-सिन्धु।
वैभव-मय भी शैल सशंक;
निज को समझ सिन्धु का विन्दु" ॥१८॥

युगल प्रकृतिमय जब तल्लीन,
सहसा तब देखे पशु वन्य।
धावित यूथ-यूथ मृग दीन;
हहर-हहर सस्वर भय-जन्य ॥१९॥

छाई नभ पर इतनी धूरि,
मानों उमड़े हों घन श्याम।
सुन रथ-हय-गज-रव कुछ दूर;
शंकित किंचित मन में राम ॥२०॥

लक्ष्मण आये तभी सशंक,
चढ़े वृक्ष अग्रज-संकेत।
हुई निरख कर भौहें वंक;
चतुरंगिणी भरत समवेत ॥२१॥

"न दुष्ट के बच पावें प्राण,
मूल्य कुटिलता का ले जान।
धारण करो कवच, शिर-त्राण;
आर्य ! उठो, लो शर संधान" ॥२२॥

अधराधर फड़के, दृग आग,
शर दाएँ कर, बाएँ चाप।
राम-प्रश्न—"वह कौन अभाग ?"
गए क्रोध से लक्ष्मण काँप ॥२३॥

"और कौन ? खल वही अरिष्ट,
कुटिल केकई-जातक नीच।
ठीक, यही मुझको भी इष्ट;
उसे मृत्यु ही लाई खींच ॥२४॥

"स्वत्व छीन तव कर षड्यंत्र,
अंध कदाचित् पा कर राज।
लिये निरंकुश शासन-तंत्र;
सजा युद्ध के आया साज ॥२५॥

"एकाकी वन हमको जान,
चहे कदाचित् करना घात।
खलता का बस यही प्रमाण;
'माँ जैसी, वसा ही जात' ॥२६॥

"किन्तु रहा शठ शायद भूल,
राम व रामानुज की शक्ति।
धरती क्या, ब्रह्माण्ड समूल;
दें हिला लषण-भुज की शक्ति" ॥२७॥

राम हुए तब कुछ गंभीर,
"बन्धु ! भरत पर शंका व्यर्थ।
बनो क्रोध - वश यों न अधीर;
यद्यपि हम सम्पूर्ण समर्थ ॥२८॥

भ्रातृ - भक्त वह धर्म - धुरीण,
सत्यनिष्ठ, विनयी, गुणखान।
स्नेह - सिन्धु ही, कपट - विहीन;
सत्य, भरत ही भरत-समान ॥२९॥

"शक्य न, उसके मन कुविचार,
स्थितप्रज्ञ वह भव-नय-सद्म।
अम्ब - दोष उस पर बेकार;
पंक - जनित क्या रुचिर न पद्म ? ३०॥

"लगे, लौटने पर साकेत,
पाकर अनपेक्षित संवाद।
दौड़े आये छोड़ निकेत,
मन में ले कर ग्लानि, विषाद ॥३१॥

"अथवा लख उसका रुख अम्ब,
भेजी हों अनुभव निज भूल।
लौटाने हमको अविलम्ब;
आखिर 'नारि' दया की मूल" !! ३२॥

"सरल, दयानिधि, निश्छल आप,
कपटी जग का पर क्या पार ?"
"फिर भी कितने सु-गुण-कलाप;
प्रस्तर में भी रत्न अपार ॥३३॥

"हों न अगर वैसा भी तात,
चहूँ न तो भी ऐसा राज्य।
पड़े भ्रात का करना घात;
मुझे इन्द्र-पद भी वह त्याज्य ॥३४॥

"आखिर किसके हित लें राज,
करके परिजन का ही नाश।
भरत, शत्रुहन, तुम, सब आज;
मिल कर पाओ सुख, अविनाश" ! ! ३५॥

हुए श्रवण यह नत सौमित्र,
कण्ठ-रुँधित-से गद्‌गद राम।
भरत अनुज-सह विमल चरित्र;
दृष्टि-सीम पहुँचे अविराम ॥३६॥

आर्य शिला पर, आर्याकूल,
जटा-जूट सिर, वल्कल देह।
समझ स्वयम् को इसका मूल;
पड़े फूट हो भरत विदेह ॥३७॥

धाये रोदित अग्रज-ओर,
रहा न उनको तन का भान।
बढ़े राम भी प्रेम-विभोर;
तरकस कहीं, कहीं धनु-बाण ॥३८॥

कह "हा आर्य्य !" भाव-उद्रेक,
गिरे, चरण धोये दृग-नीर।
प्रभु ने किया अश्रु-अभिषेक;
खींच, हृदय से भींच अधीर ॥३९॥

जलमय दृग, कण्ठद्वय रुद्ध,
भ्रातृ-मिलन का अनुपम पर्व।
प्रेम निरख यह निश्छल, शुद्ध;
चेतन जड़, जड़ चेतन सर्व!!४०॥

किसी तरह फिर निकले शब्द,—
"आर्य! हुआ क्यों कम अनुराग?"
नयन प्रवाहित अविरल शब्द;
"आये वन क्यों मुझको त्याग?४१॥

"वचन लिये माता के मान,
विकृत, विवेक-रहित, जड़-ग्रस्त।
किये न अन्य किसी का ध्यान;
रघुकुल हुआ हन्त! विघ्नग्रस्त"!!४२॥

पुनः कसा उसको उर-धाम,
"यों कह भाई! और रुला न।
प्रेम-भाव का भूखा राम;
तुम तो निश्छल! उसके प्राण" ॥४३॥

पहुँची गुरुजन-पुरजन-साथ,
चल कर माताएँ पथ गूढ़।
पद छूने ज्योंही रघुनाथ,
दौड़े, ठिठके, सिहर विमूढ़ ॥४४॥

सित-वसना, नत, भूषण-हीन,
प्रभ-हत, वलय-रहित, कृशगात।
देख अम्ब को दीन, मलीन;
गिरे चरण कहते "हा तात"!!४५॥

गए केकई-पद फिर लेट,—
"माँ! यह कैसा विधि का घात"!
लिया राम को अंक समेट;
शब्द न, उमड़ा अश्रुप्रपात!!४६॥

रोये लक्ष्मण हो बेहाल,
सिसक-सिसक कर सीता हाय !
माताएँ पट मुख में डाल;
फफक-फफक कर सब समुदाय ! ! ४७।।

"पिता हुए क्यों हमसे दूर!"
"रटते तुम्हें हुए चिर-मौन !"
"हाय ! अधम मैं कितना क्रूर" !
"वत्स ! व्रती जग तुम-सा कौन" ! ! ४८।।

वढ़े सहज दृग पोंछ वसिष्ठ,—
"अमर, अशोचनीय ही भूप।
स्मरण-योग्य, विजयी, व्रत-निष्ठ;
सर्वत्र उपस्थित यश-रूप ।।४९।।

प्राण अनश्वर, नश्वर देह,
अन्त सुनिश्चित उसका त्याग।
मोह रहे न, यदपि हो नेह;
कर्म निकाम, ईश-अनुराग" ।।५०।।

वँधा कठिनता से मन धीर,
गुरुवर - वाणी सुन मननीय।
श्रद्धायुत तर्पण, दृग नीर;
सब ही किये कर्म करणीय ।।५१।।

पक्व, सरस, मृदु, मधु फल भोग्य,
चुन-चुन लक्ष्मण कर एकत्र।
आगत-जन-स्वागत फिर योग्य—
किये, उपस्थित गद्गद तत्र ।।५२।।

जमी सभा विराम - उपरांत,
प्रभु गुरु - निकट शिला - आसीन।
भरत समीप, सभासद शांत;
वृक्ष, पवन, सब चुप, तल्लीन ।।५३।।

किया मौन गुरुवर ने भंग,
"प्रकट करें निज भरत अभीष्ट।"
भारी गला, शिथिल-से अंग;
"रहा शेष क्या अब उद्दीष्ट!! ५४॥

"तड़पे पिता, गए सुरधाम,
आर्य विपिन तन वल्कल साज!
शेष अभीष्ट? पूर्ण मन-काम;
पाया सहज अकण्टक राज!! ५५॥

"नष्ट हुआ गृह, गुरुतर कार्य!
लगा भाल यश-तिलक विशिष्ट!
तुम्हीं बता दो अब आचार्य!
क्या अभीष्ट मेरा अवशिष्ट"!! ५६॥

अधिक न निकले मुख से शब्द,
राम-अंक में गिरे निढाल।
सिसके सब, बरसे दृग-अब्द;
भींचा रघुवर ने तत्काल॥५७॥

"किसे मिली तव मन की थाह?
सकी न जननी जिसको जान।
चरित विमल तव, हृदय अथाह;
मुझे तदपि कुछ तो अनुमान"॥५८॥

"लौटो मेरे फिर आराध्य!
दोष भूल कर, विनती मान"।
"उचित न हठ यों, करो न बाध्य;
तुमको स्यात न इसका ज्ञान॥५९॥

"शर्तें तव नाना की मान,—
छिपा रहे क्यों अब यह राज़?
तव-मम हुआ जन्म जब था न;
दिया तात ने तुमको राज॥६०॥

"लिया वही तव माँ ने माँग !"
"वही तुम्हें मैं देती आप।"
चौंके सब सुन मय अनुराग;
कैकेयी - वाणी निष्पाप ॥६१॥

"प्रकट करूँ क्या, धिक्-धिक् स्वार्थ,
रहा राज्य का पर कब मोह ?
जो कुछ किया, भरत - रक्षार्थ;
हुआ नाथ का असह विछोह ॥६२॥

"क्योंकर हुआ, न जानूं आप,
रहे जनम भर उर में शल्य।
जलती वह्नि, अमित अनुताप;
समझे कोई पर वात्सल्य ! ! ६३॥

"हाय ! बदा था यह भी भाग्य,
लगना अपयश - टीका भाल।
सकूं न कह भी कुछ, दुर्भाग्य !
विमुख भरत तक मुझसे लाल ॥६४॥

"सत्य, हृदय इसका सुविशाल,
दे कर जन्म न पाई जान।
चलो लौट, लो राज्य सँभाल;
अभागिनी की इच्छा मान ॥६५॥

"रही मानिनी नित, शुचि भाग !
दया न चाहूँ, दे दो दण्ड।
स्वतः लगा दी घर को आग;
हुआ न कुलिश - कलेजा खण्ड ॥६६॥

"सोचा जिसमें जग - कल्याण,
राष्ट्र - कर्म, माँ का कर्तव्य।
सिद्ध हुआ मेरा अज्ञान;
सर्वनाश - हित, हा ! भवितव्य ! ! ६७॥

"मचा हृदय कैसा तूफ़ान !
वही राम तू मम, मैं अम्ब।
काश, सको तुम इसको जान;..."
अटके शब्द कण्ठ-अवलम्ब ॥६८॥

अश्रु-धार ने की तव पूर्ति,
उमड़-उमड़ बहता अनुताप।
वन दीन वह करुणा-मूर्ति;
ज्यों सुरधेनु, सिंहिनी आप ॥६९॥

सभी उपस्थित सिसके तत्र,
विरक्त गुरु के दृग भी सिक्त।
लगे पेड़ से चूने पत्र;
वायु वेदना-रस-अभिषिक्त ॥७०॥

"हृदय तुम्हारा माँ ! अकलंक,
बन्धु भरत-सा जिसका जन्य।
मोती उपजे सीप, न शंख;
शत-बार भरत-जननी धन्य !! ७१॥

"पालन प्रथम, प्रथम आदेश,
शिरोधार्य माँ ! तव अभिव्यक्ति।
दिखा दिया जग को सविशेष;
स्थित 'नारी' में कितनी शक्ति" !! ७२॥

कहा भरत ने नत, नय-पूर्ण—
"लौटो तव तुम घर को आर्य !
करूँ पिता-प्रण मैं परिपूर्ण;
तुम बिन मुझे अवध परिहार्य" ॥७३॥

"त्याग सत्य-हित मुझको, तात—
मम-हित हुए देह से मुक्त।
अवहेला उस प्रण की भ्रात !
कहो तुम्हीं, होगी उपयुक्त ?" ७४॥

"भरत विवश तव आज्ञा मान,
प्रतिनिधि ही तब रहे प्रजार्थ।
लेगा वह न आपका स्थान;
स्व-पादुका दें नृपासनार्थ" ।।७५।।

राम अवाक, नेत्र जल - धार,
चकित - थकित - से सब ही मौन।
बन्धु ! गया मैं तुमसे हार;
धन्य, भरत-सा जग में कौन" ! ! ७६।।

(मौक्तिकदाम वृत्त)

प्रभाकर पश्चिम, पूर्व मयंक,
समीरण सिक्त वहे मृदु वन्य।
शकुंत सवाक, महीरुह - अंक;
मनों कहते सब ही 'शत धन्य' ।।७७।।९८५।।

षष्ठदश सर्ग

पश्चात्ताप

(हारिणी वृत्त)

धीरे-धीरे विगत सविता, आच्छन्न चारों दिशा।
छाई पृथ्वी-नभ शशि-गता यों घोर काली निशा।।
तारे सारे विकल, चुप ही लो कोकिला वागिशा।
खिन्ना यामा अमित दुखिया, सर्वस्व ही हारिणी।।१।।

खो चन्दा को, नलिन-पति को खो जीवनाभा चुकी।
बैठी मारे मन स्वयम का, निःश्वास दीर्घा - युता।।
खोये - खोये तरु - विटप भी साथी न कोई रहा।
रो भी पाये प्रकट न, गिरे आँसू निरे शून्य में।।२।।

ककेयी जो अवधपति की, कामेश्वरी थी कभी।
एकाकी ही व्यथित-हृदया बैठी ठगी कक्ष में।।
ऊने - ऊने नयन उसके, भीगे सलूने पुनः।
सूने - सूने मन - भवन में पीड़ा रही पालती।।३।।

'कैसे ऐसी घटित घटना हा! हो गई स्वप्न-सी!
क्यों ऐसे मैं असमय बनी मूर्खा महा बावरी?
क्यों यों मेरे मन भ्रम हुआ, हा! मंथरा दोष क्या?
क्या ये सारी विधि-कुटिलता, या दोष दुर्भाग्य का!!४।।

'स्वामी मेरे अतुल गुण के, श्री, शौर्य के पुंज थे।
देवों जैसे स्व-वचन-धनी, वे सत्यवादी सदा॥
प्रेमी ऐसे — उन - हित रहीं प्राणाधिका सर्वदा।
हा! हा! ऐसा फिर मन हुआ जानें अविश्वास क्यों!! ५॥

'जीजी जैसी अवनितल क्या, नारी नहीं स्वर्ग में।
हीरे जैसा सुत छिन गया तो भी न छोड़ी मया॥
प्यारा जैसा भरत, मुझको, तैसा उन्हें भी रहा।
जाने कैसा अहित उनका दुर्बुद्धि मैंने किया॥६॥

'प्यारे चारों सुवन उनके, प्यारे मुझे भी रहे।
तैसे जीजी - हित नयन के तारे दुलारे रहे॥
चारों में भी अकपट सदा सुस्नेह, सद्भावना।
मेरे में ही कलुषित जगी दुर्बुद्धि, दुर्भावना!! ७॥

'ज्ञानी, त्यागी, कुल-तिलक जो, धर्मी, व्रती सद्गुणी।
स्नेही भी त्यों प्रिय भरत का, प्यारा सभी का रहा॥
भेजा ऐसा सुत विपिन में हा! राज्य के मोह में।
खोया हीरा अनुपम यथा हो काँच के मूल्य में!! ८॥

'टीका ऐसा सिर पर लगा, मेरे मिटेगा न जो।
भावी पीढ़ी व्यथित मन से रो-रो कहेगी कथा—
ऐसी कोई तरणि-कुल में रानी अभागी रही।
अज्ञानी-सी खुद बन गई जो वंश की घातिनी!! ९॥

'चालें सारी जिस - हित चलीं, पाषाण रक्खे हिये।
बेटा वो ही समझ न मुझे पाया, पराया हुआ॥
काटे खाये दिशि-दिशि मुझ, हा! साँस जाये घुटी।
जानें कैसे प्रकटित करूँ दुर्दम्य अन्तर्व्यथा'!! १०॥

(हंसगति छन्द)

'मुझ - सम अम्बर - भाग्य, तिमिरमय, फूटा।
गत रवि - जीवन-सार, सहारा टूटा॥
दूर हंसगति इन्दु, अश्रु दृग ढाले।
उभरे बन नक्षत्र, हृदय पर छाले॥११॥

'सरयू का मैं स्पष्ट रुदन-स्वर सुनती।
शिला-शिला वह शीश, पटकती, धुनती।।
निज खोई निधि अथक, खोजती भटके।
मम निष्क्रिय-से प्राण, यहाँ क्यों अटके!!१२।।

'तममय, सूना, व्यथित, निशा का जीवन।
अंचल दृग जल-सिक्त, विकल, वोझिल मन।।
चुप, घुटता दम, जले दीप-सा भीतर।
जगवाले क्या जान सकेंगे अन्तर!!१३।।

'मुझ-सी सीप अभाग, अनाथ विचारी।
खो मोती अनमोल, पड़ी मन मारी।।
सिकता-मय, रस-सिक्त, नहीं अब जीवन।
अब तो कण-कण-आग झुलसती तन-मन।।१४।।

'तिल-तिल दीप-समान, मौन मैं जलती।
शीश कालिमा, मूक व्यथा उर पलती।।
आँख वदरिया उमड़-उमड़ ही पड़ती।
उर-ज्वाला मिटती न, भड़कती, वढ़ती।।१५।।

'किया न धिक् विश्वास, नाथ का इतना।
मम कारण उत्पात, हुआ यह कितना!!
अविवेकी यदि जन्म न होता मेरा।
सूना होता जगत न विधना तेरा!!१६।।

'पा सुत-रत्न अनूप, स्वयम् ही खोया।
कल्पवृक्ष के भूल, शूल ही वोया।।
समझी हित में अहित, अहित ही में हित।
मेरे भ्रमवश नारि-जाति, हा! लांछित!!१७।।

'मकड़ी ने खुद जाल, बुना फँसने को।
रचा नरक तज स्वर्ग, स्वयम् वसने को।।
जल जाये वह बुद्धि, मुझे भरमाया।
कि न मिल पाये राम, न पाई माया!!१८।।

'दिन को खा कर रात असित यह आई।
या मेरी करतूति, तिमिर वन छाई ?
'सन्-सन्' मुझ पर पवन, हँसे या रोये ?
मुझ - सी दूजी कौन, पुत्र, पति खोये !! १९॥

'चित्रकूट में राम शांत, मुख दीपित।
वन वनचर भी म्लान, नहीं यत्किंचित ॥
सकी न कर भी व्यक्त भावना, जड़ वन।
सँजो रही बस मौन, व्यथा मन की मन !! २०॥

'उमड़ - उमड़ कर बरस रहे पावस-घन।

'हुआ श्याम तन, दुःख - घटा घिर आई,
गर्जन - रोदन, हूक - तड़ित बलखाई;
गिरि - उर द्रवती अश्रु - झड़ी दृग छाई,
नयनों से मम होड़ करे व्यर्थ गगन !
उमड़-उमड़ कर बरस रहे पावस-घन !! २१॥

'घुमड़-घुमड़ आषाढ़, उमड़ कर बरसे,
रिम - झिम सावन बरस रहे नभ-सर से;
गर्जन - तर्जन - युक्त भाद्र झर - झर से,
आश्विन बरसे, स्वाति लिये मोती-धन।
उमड़-उमड़ कर बरस रहे पावस-घन ॥२२॥

'वृथा अरी क्यों आज, कूकती कोयल,
हुआ विगत ऋतुराज, कभी का ओझल,
रोता अम्बर, सिक्त मेदिनी - अंचल,
पल - पल चंचल सरित चली व्याकुल मन।
उमड़-उमड़ कर बरस रहे दुखिया घन ॥२३॥

'तरु- तन सिहरन, अब न पवन-गति मस्ती,
नलिन-पलक तर, चिबुक न अलिनि परसती;
ऊषा धूमिल, साँझ थकी - सी लगती,
यामा करने तरस रही शशि-दर्शन !
उमड़-उमड़ कर बरस रहे दुखिया घन !! २४॥

'बरसूं मैं भी, बरस-बरस तू जी भर,
दोनों में पर आज, बड़ा ही अन्तर;
कर देगा तव सलिल, धरा को उर्वर,
मेरा दृगजल धूलि-धूसरित निस्वन !
उमड़-उमड़ कर बरस रहे पावस-घन ! ! २५॥

'निष्ठुरता तव निरख चराचर व्याकुल।
खा कर शशि को भी न हुई तू उज्वल॥
गर्व न कर मन किन्तु, अमावस आली !
तुझ से तो मम अधिक, भाग्य-लिपि काली॥२६॥

'तू तो काली कुटिल, नितांत अमावस !
यहाँ दिये गल-बाँह, अमावस-पावस ! !
विष पी शिव ने सुयश, सहज ही पाया ! !
जग ने मेरे शीश कलंक लगाया॥२७॥

'वर्षा बीती, वरद शरद ऋतु आई।

'खिले कास, बन्धूक व किंशुक, उत्पल,
खंजन विहरे गगन, भ्रमर भी चंचल;
सर-सरिता में कलित, ललित जल निर्मल,
मोती चुगने हंस-पाँति ललचाई।
वर्षा वीती, चारु शरद ऋतु आई॥२८॥

लो दिन, संध्या अस्त, उदित नभ हिमकर,
चुगता तारक हंस, अनन्त-सरोवर;
रहा अभ्र का नाम न किंचित नभ पर,
शरद-कौमुदी अवनि मुदित छिटकाई।
वर्षा बीती, सरस शरद ऋतु आई॥२९॥

'कहने को तो नाम, हिमांशु, कुमुद-घन !
करता भू का स्निग्ध, सुधामय कण-कण;
मेरा तो पर हाय ! झुलसता तन-मन,
शीतल ज्योत्स्ना यह कि अग्नि भभकाई ?
वर्षा वीती, चारु शरद ऋतु आई॥३०॥

'उज्वल इतना, शांति कहाँ पर पाता?
घटता - बढ़ता, रोग - ग्रस्त बन जाता;
ओस - बिन्दु - मिस अमिय - अश्रु बरसाता,
मैं दुखिया हतभाग्य, दुखी तू भाई।
वर्षा बीती, दुखद शरद ऋतु आई ॥३१॥

'तेरे दुख में विरल, तरल उज्वलता,
पीड़ा में मम गरल, अनल, असफलता;
उर जलता, मैं मूक, नहीं वश चलता,
शरद! सरस तू, यहाँ विरसता छाई!
वर्षा बीती, वरद शरद ऋतु आई!! ३२॥

'तू हँसती क्यों शरद, सुहागिन ऐंठी?
मैं रोती जो भवन अभागिन बैठी!!
यों इठला मत अरी कहाँ मैं रोती?
ये तो बच्चों हेतु, पिरोती मोती!! ३३॥

'अश्रु! दृगों से छलक-छलक क्यों पड़ते?
कहा मानते नहीं, हठी! क्यों अड़ते?
समझे तव जो मोल, कहाँ वे स्वामी?
बनना उनका चाह रहे अनुगामी? ३४॥

'अरे, न दो यों छोड़, साथ दुखिया का।
नयनों से बढ़ मूल्य कहाँ दुनिया का?
दुखिया का तुम साथ छोड़ जो बहते।
मिट्टी में बेहाल, पड़े यों रहते!! ३५॥

'कण-कण, जन-जन शीत-भीत कम्पित-तन।

'रवि बरसाना भूल गया अंगारे.
ठिठुर रहा उद्दण्ड, ठण्ड के मारे;
सिकुड़ी - सिकुड़ी धूप, दिवस सिकुड़ा रे,
लगे तीर-से नीर, समीरण, अगहन।
कण-कण, जन-जन शीत-भीत कम्पित-तन ॥३६॥

"आया जाड़ा साथ लिये निज दल-बल,
'सी-सी' करता अनिल, अनल भी निर्बल;
हिम - तुषार - नयनाम्बु, निशा के अंचल,
कोंपल-कोंपल, विटप-विटप-तन सिहरन।
सिकुड़ा जाता शीत-भीत कम्पित तन ॥३७॥

'युग - सी लंबी रात, हुए दिन छोटे,
करता यह हेमन्त, अन्त कर चोटें;
प्रिय भी रिपु हों आयँ दिवस जब खोटे,
कौन समझता मूक हृदय का क्रन्दन !
सिकुड़ा जाता शीत-भीत कम्पित तन ! ! ३८॥

'यहाँ खिचे जब खाल, हाल क्या वन में ?
फिरते वल्कल - चीर, लपेटे तन में;
मेरे बच्चे अर्द्ध - नग्न निर्जन में,
लता तुहिन-हत-सदृश जानकी पावन !
कण-कण, जन-जन शीत-भीत कम्पित तन ॥३९॥

'ईख, कपास व धान, गेहुँअन वाली,
लहलहती तिल, जवस, खेत हरियाली;
धरा बनी सम्पन्न, अन्न - धनवाली,
वृथा सभी धन, जब न रहे जीवन-धन !
कण-कण, जन-जन शीत-भीत कम्पिन तन ! ! ४०॥

'अपराधिनि मैं बहू ! तुम्हारी भारी।
कैसा किया अनर्थ, व्यर्थ बन नारी ॥
हिम - शर खर प्रासाद गड़े जब तन में।
तुम कोमल-तन-चरण, भटकती वन में ! ! ४१॥

'अनर्थकर ! धिक्कार, राज्य रे, शत-शत।
मानव होवे मोह-अन्ध जो अवनत ॥
पर मुझको कब मोह, राज्य का किंचित।
समझे कोई पुत्र - नेह - उर-सिंचित ॥४२॥

'शिशिर-अजिर में हहर-हहरता पतझर !

'कहीं वृक्ष से पर्ण, पीत हो झड़ते,
कहीं महीरुह ठूंठ निरे लख पड़ते;
शुष्क पात असहाय, हवा में उड़ते,
शर-सी शीत बयार, वहे सर-सर-सर !
शिशिर-अजिर में हहर-हहरता पतझर ॥४३॥

'डरता - डरता भानु, गगन धरता पग,
किरण उतरती भूमि, सिहरती लगभग;
फिरते दोनों भीत शीघ्र भरते डग,
लेते जा कर साँस, प्रतीची के घर !
शिशिर-अजिर में हहर-हहरता पतझर ॥४४॥

'शिशिर ! न मम तन पीत-वर्ण क्या छाया ?
ठठरी, सूखी क्या न बनी यह काया ?
श्वास - बयार, विवर्ण-वदन, सिअराया;
झरते दृग से क्या न अश्रु झर-झर-झर ?
शिशिर-अजिर में हहर-हहरता पतझर ! ! ४५॥

'वन - उपवन - भव-विभव-सुभग दिन बीते,
पराग - रस - माधुर्य - पात्र सब रीते;
जीर्ण, धूलिगत मल्लि - सुमन मन-चीते,
मलीन-वसना प्रकृति, गलित-सी जर्जर।
शिशिर-अजिर में हहर-हहरता पतझर ॥४६॥

'मम कांक्षा-सी धूलि, हवा में उड़ती,
हृद्गत - भाव - समान, वल्लरी झुरती;
मनोकामना सदृश, सुरभि मन कुढ़ती,
तृण-तृण काँपे अधर मनों स्वर थर-थर !
शिशिर-अजिर में हहर-हहरता पतझर ! ! ४७॥

'जीर्ण-शीर्ण क्यों प्राण, न मम झड़ पड़ते ?
इस पिंजर में अटक, वृथा फड़फड़ते ॥
होता पतझड़ - अन्त, वसन्त - शुभागम।
भाग्य रहे नित शिशिर विषम छाये मम ॥४८॥

'पर नहीं, मुझ विवश, अभी कुछ जीना।
क्या मुख पति को स्वर्ग, दिखाऊँ दीना !!
किया जिन्हें सुख, विभव, स्वत्व से वंचित।
प्रथम उन्हें दूँ सौंप, धरोहर संचित ॥४६॥

'हुआ शिशिर का अन्त, वसन्त सुहाये।

'पेड़ों के सिर नाच रही नव कोंपल,
मृदु मुसकाती कली-कली भी कोमल;
सुमन-सुमन मधु छलक-छलकता पल-पल,
व्यथा मंजरी थिरक-थिरक उकसाये !
हुआ शिशिर का अन्त, वसन्त सुहाये ॥५०॥

'रुन-झुन पत्ते झनक रहे, ज्यों पायल,
कमसिन कोयल-गान मधुर, स्वर कोमल;
अनिल वजाये वाद्य, चहकता खग-दल,
प्रकृति - वधूटी - विभव - छटा छितराये।
हुआ शिशिर का अंत, वसंत सुहाये ॥५१॥

'दहती नलिनी, मौलसिरी खिल नाहक,
वे उर - साल रसाल, केतकी, चम्पक;
दाहक लाल पलाश, सुलगते पावक,
दुस्सह, दारुण शोक, अशोक बढ़ाये !
हुआ शिशिर का अंत, वसंत सुहाये ॥५२॥

'गाती या भर हूक, कूकती कोयल ?
'गुन-गुन गुंजित, भ्रमित, व्यथित या अलि-दल ?
विमन - सुमन-निश्वास, न सुखकर परिमल,
जहाँ-तहाँ अनमनी तितलियाँ धाये !
हुआ शिशिर का अंत, वसंत सुहाये ॥५३॥

'बता बसंत ! वहार-अर्थ क्या भोली ?
भीषण जब जल रही, हृदय में होली ?
मेरी प्रियतम बिना, रिक्त ही झोली,
मधु क्या, तू विष विषम, घोलती जाये !
हुआ शिशिर का अंत, वसंत सुहाये !! ५४॥

'लपण, जानकी, राम, विपिन के भागी!
भरत, माण्डवी भवन, विरागी, त्यागी!!
प्रिय स्वामी सुरधाम, व्यथित मन मेरा।
फिर मधुऋतु! क्या काम, अवध में तेरा ॥५५॥

'सच तो यहाँ वसंत, निरंतर रहता।
प्रेम - भाव, आनन्द - मधुर - मधु वहता ॥
छाया रहता सौख्य, प्रजा में हरदम।
मैं ही पर वन गई, अभागिन ग्रीषम!!५६॥

'भीष्म ग्रीष्म की विषम लपट-सी चलती!

'यह किस लिए प्रचण्ड, चण्डतप तपता?
'शक्ति' - जाप पंचाग्नि, जलाकर जपता;
या कि विवश-सा स्वयम्, निदाघ कलपता?
क्यों यह चारों ओर, ज्वाल-सी वलती?
भीष्म ग्रीष्म की विषय लपट-सी चलती ॥५७॥

'सहस्रांशु सत्तांध, कदाचित हो कर,
जीवनदायक बना, नाश कर, दुख कर;
उसका ताप असह्य, विकल सचराचर,
अम्बर ही न, सुदूर धरित्री जलती।
भीष्म ग्रीष्म की विषम लपट-सी चलती ॥५८॥

'पादप पीड़ित, जेठ झुलसती काया,
किन्तु विरोध - स्वरूप न पात हिलाया;
वृक्ष - चरण में क्षीण, सिमटती छाया,
विहग-मण्डली भीत, न व्योम मचलती।
भीष्म ग्रीष्म यह, विषम लपट-सी चलती ॥५९॥

'सर - सरिताएँ सूख चलीं वेचारी,
तृषित तड़पती मीन, समय की मारी;
मृगतृष्णा मरुभूमि, मृगी संहारी,
ऊष्म श्वास-मिस प्रकृति निदाघ उगलती!
भीष्म ग्रीष्म की विषम लपट-सी चलती ॥६०॥

'पहले ही तो अनल, रहा उर में बल,
फिर उष्मानिल बहे, रहा अंधड़ चल;
निरवलम्ब मैं, रहा न जीवन-सम्बल,
स्वेद-बूंद तन, अश्रु-धार दृग ढलती!
भीष्म ग्रीष्म की विषम लपट-सी चलती!! ६१॥

'पुर में ग्रीष्म असह्य, वहाँ क्या होगा?
वन दावानल बना दहकता होगा॥
कैसे सकती उसे कोमलांगी सह?
बलता मग, पग मृदुल जानकी के वह!! ६२॥

'बच्चे, सरसिज भी न, टिके समता में।
निर्ममता अनभिज्ञ, पले ममता में॥
जीवन का कुछ भी न, अभी सुख भोगा।
वन में तन सुकुमार, झुलसता होगा!! ६३॥

'गये पवन-सुत कथा, व्यथा की कहकर।
लक्ष्मण का क्या हाल न जानें जर्जर।
मैंने ही तो किया अनिष्ट अकारण।
भेजा पति को स्वर्ग, अपत्यों को वन॥६४॥

'युद्ध - कला सारथ्य - कला से अवगत।
जा न सकी पर, रही यहीं पर आहत॥
गए पवन - गति पवन-पुत्र तो उड़कर।
इतना अवसर भी न, जायँ अनि ले कर॥६५॥

'एकाकी वे दूर, कहाँ दक्षिण में।
मेरे कारण व्यर्थ, फँसे दुर्दिन में॥
लक्ष्मण - रक्षा करे, अवश्य दया कर।
दुर्दिन भी प्रभु! बीत जायँ अब सत्वर॥६६॥

'लषण - जानकी - राम-भरत-तप अनुपम।
जग में किसका त्याग, अतुल उनके सम?
वर्ष चतुर्दश अवधि, बीतने को अब।
विकल, समुत्सुक नयन,—लखें उनको कब? ६७॥

'आने में यदि राम, विलम्ब करेगा।
अवधि वीतते प्राण, भरत तज देगा।।
लषण-मात, रामाम्ब, सुविद्, सुविचारी।
असमञ्ज मैं जग वनी, तिरस्कृत नारी।।६८।।

'जग तो वस नित असित-पक्ष देखेगा।
पर क्या उर की राम, व्यथा समझेगा?
परिणाम न, हृद्भाव लखें टुक न्यारा।
उर में जलती ज्वाल, नयन जल-धारा!! ६९।।

'कहूँ कौन मुख नाथ! हृदय के वासी!
रही आपकी नित्य, मानिनी दासी।।
क्यों तब विधि ने, पता न, मति मम फेरी।
करें क्षमा ही भूल, हुई जो मेरी।।७०।।

(राधिका उभय वृत्त)

'हा! स्वप्न यथार्थ, यथार्थ गया हो सपना।
हो जाय यथार्थ यथार्थ पुनः जो अपना।।
ज्योत्स्ना-सम आकर 'चन्द्र', अमा-सी विखरी।
नक्षत्र उड़े अव, प्रात-प्रभा हो निखरी'।।७१।।

सप्तदश सर्ग

राम का अवधागमन तथा राजतिलक

(सार अथवा ललितपद छन्द)

करवट बदली प्रकृति - नटी ने,
क्षितिज - पटी - तट लाली।
शनैः शनैः मिट गई तिमिरमय,
दुखदा रजनी काली॥
छिटक पड़ी कुछ कलित ललितपद,
ऊषा की उजियाली।
करती जीवन - सार समर्पित,
मुक्तामणि हरियाली॥१॥

छिपे निशाचर पर-पीड़क सब,
तम की प्रभुता होली।
अरुणिम आभा युत प्राची ने,
विलसित आँखें खोलीं।
तभी पवन - झोंके ने आकर,
गगन उड़ाई रोली,
अरुण-विरुद-कल-रव-युत निकली,
खग - विहगों की टोली॥२॥

मन्द समीरण - तन में कम्पन,
तरु - तरु सिहरन छाई।
खोल मदिर अलसाई अँखियाँ,
मृदु कलियाँ मुसकाईं॥

प्रमुदित मुकुलित कल-कुसुमों ने,
निज निधि - सुरभि लुटाई।
मधुमय नलिनी की पाँखों पर,
अलि - टोली मँडराई ॥३॥

प्रभा प्रभाकर ने मनहर निज,
नभ - पथ पर छिटकाई।
स्वर्णिम - अरुणिम मिश्रित आभा,
छटा अनूठी छाई॥
दुन्दुभी बजाई मृगपति ने,
मारुत ने शहनाई।
करतल - ध्वनि की वृक्षों ने भी,
द्विज - मुख 'जय' - ध्वनि आई ॥४॥

अन्तरिक्ष से सोना जब यों,
सहस किरण बरसाता।
कण-कण-धरती का रह-रह कर,
पुलक - पुलक - सा जाता॥
उड़ता नभ में रामादि सहित,
अन्य सूर्य - सा भाता।
कनक-खचित, मणि-माणिक्य-जटित,
पुष्पक याम सुहाता ॥५॥

प्रेम-पगे यों कहा राम ने—
"प्रिय मिथिलेश कुमारी!
बसी त्रिकूट - शृंग पर देखो,
कनकपुरी मन हारी॥
कला विश्वकर्मा की निरुपम,
सिन्धु - हृदय बलिहारी!
दुर्दैव, मिला इसको लेकिन,
शासक अत्याचारी ॥६॥

'सत्तायुक्त पशुत्व दशानन,
मदमाता रण-बंका
रहे नहीं भक्षण-हित सत्ता,
रक्षण-हित निःशंका ॥
मध्य-समुद्र सुरक्षित गढ़-सी,
बजवाया रण-डंका ।
मिट्टी में मिलवाई उसने,
सोने-सी यह लंका ॥७॥

वहाँ प्रहस्त, यहाँ पर मैंने,
कुम्भकर्ण को मारा ।
भक्ष्य बना हनुमान-गदा का,
वह धूम्राक्ष विचारा ॥
रण में भुज-बल-सम्मुख जिसके,
वज्रपाणि भी हारा ।
मेघ-नाद युत मेघनाद को,
लक्ष्मण ने संहारा ॥८॥

"त्रिशिरा उधर, इधर सुषेण ने,
मारा विद्युन्माली ।
मरे महोदर, महापार्श्व भी,
विरूपाक्ष बलशाली ॥
कट गई नरान्तक,-देवान्तक,—
अति कायासुर-जाली ।
हना वहाँ अंगद ने देखो,
त्रिकटासुर भूचाली ॥९॥

"वज्रदंष्ट्र, मकराक्ष, ब्रह्मरिपु,
देखो रुधिर-सने वे ।
कुम्भ, निकुम्भ, प्रजंघ, अकम्पन,
मृत्युग्रास बने वे ॥

शोणिताक्ष, यूपाक्ष समर के—
बलते भाड़ चने वे।
यज्ञशत्रु, सुप्तघ्न, सूर्यरिपु,
रण में गए हने वे ॥१०॥

"दस-दस योद्धाओं की जिसके,
शक्ति भुजा में भारी।
सुर - नर - संयुक्त शक्तियाँ भी,
लड़ - लड़ जिससे हारीं ॥
दानव, मानव - कलंक रावण,
अति दुष्ट दुराचारी।
मरा वहाँ जुल्मों से जिसके,
पृथ्वी काँपी सारी ॥११॥

"महाप्रलय - सा महा भयंकर,
रण साकार हुआ है।
शोणित नदियाँ क्या ? रत्नाकर
रुधिरागार हुआ है ॥
सत्य, कि खल राक्षसगण का क्षय,
अपरम्पार हुआ है।
नहीं प्रिये ! पर वानर - नर का,
कर्म संहार हुआ है ॥१२॥

"देखो शोणित - कीच जमा वह,
शव के ढेर लगे - से।
गिद्ध, सियार, चील, कौओं के,
ज्यों हों भाग्य जगे - से ॥
पड़े टूट बोटी - बोटी पर,
वे सब बन्धु सगे - से।
नोच - खसोट रहे - से अँग-अँग,
मुखड़े रक्त - पगे - से" ॥१३॥

दृश्य देख वीभत्स वहाँ का,
गई काँप ही सीता।
देख सकी न अधिक, दृग मींचे,
उर - नवजात पुनीता॥
प्रिय - उर सिर अनायास रख दी,
कोमल - हृदया भीता।
"कितने भालों को कर डाला,
रण ने कुंकुम - रीता" ! ! १४॥

"विभीषिका अनभीप्सित भीषण,
सत्य, युद्ध की होती।
खो सुहाग नारियाँ विलखतीं,
माएँ अश्रु पिरोतीं॥
किन्तु और क्या हो सकता, जब—
असुर - भार भू ढोती।
दानवता खुल नर्तन करती,
मानवता चुप रोती॥१५॥

"मुझको भी तो देवि ! रही नित,
'विश्वशांति' मन भाती।
इसी लिए तो वन-वन भटका,
छोड़ राज्य की थाती॥
संभव, सत्ता - विहीन पशुता,
मानवता पा जाती।
प्रेम - अहिंसा से सत्तामय—
पशुता समझ न पाती॥१६॥

"यत्न तथापि किया वहुतेरा,
दुष्ट कहाँ पर माना ?
मैंने तो नित चाहा भरसक,
नर - संहार बचाना॥

अविचारी - अन्यायी - सम्मुख,
उचित नहीं झुक जाना।
विनाश सत्तायुत पशुता का,
जाता वांछित माना ॥१७॥

"बदला धर्माधर्म - अर्थ भी,
समय - समय पर करता।
धर्म अहिंसा कभी, कभी वह
बन जाती कायरता॥
वध न वध्य का, त्यों अवध्य-वध,
पाप, भीरुता, जड़ता।
कदा 'शठे शाठ्यम' को समुचित,
अपनाना ही पड़ता ॥१८॥

"शासक का कर्तव्य प्रथम यह,
राष्ट्र - चरित्र उठाना।
न कि हो प्रभुता-मदांध स्वयमपि,
जुल्म अन्य पर ढाना॥
नारी - गौरव, मानव - धर्म न,
सत्तामद में जाना।
ऐसे दुष्टों के प्रति पड़ती,
'दण्ड - नीति' अपनाना ॥१९॥

"बनो अधीर न अधिक शुभे ! यों,
जा सका न वह टाला।
वरंच यह सब आवश्यक था,
होता होने वाला॥
अब बिसार कर उसे विलोको,
नर्तित वीची माला।
गर्जन - तर्जन - युत वरुणालय,
गहन, अनन्त, विशाला ॥२०॥

"जहाँ रात हम ठहरे थे, वह—
'समुद्रतीर्थ' सुहाया।
सेतु विचित्र विशालकाय वह,
जो 'नलसेतु' कहाया॥
लंका प्रवेश का जब सुमुखी!
दूजा मार्ग न पाया।
पुल अथाह अर्णव पर मैंने,
यह दुस्तर बँधवाया॥२१॥

"चीर 'हिरण्य नाभ' सागर - उर,
ऊपर को उठ आया।
मारुति ने विश्राम यहीं पर,
जलधि तैरते पाया॥
हमने पड़ाव उस टापू पर,
सेना का डलवाया।
स्थान सेतु - निर्माण - मूल वह,
'सेतुबंध' कहलाया॥२२॥

"किये कार्य अति दुष्कर ये सब,
भद्रे! मैंने तव - हित।
मुक्त किया तुमको, अरि को भी,
रण में किया पराजित॥
शत्रु - जनित - अपमान किया यों,
शत्रु - सहित परिमार्जित।
किये कार्य सब, जो जग संभव,
वे सब, जो पुरुषोचित॥२३॥

"अमर्ष - वश अपमान-तिलक यदि,
शीश अमित्र लगाये।
धिक्-धिक् पौरुष उसका, जीवन—
कायर चुप रह जाये॥

देख लिया मम विक्रम जग ने,
गीत सुरों ने गाये।
ध्वजा सगर्व आर्य - संस्कृति की,
अब सुदूर फहराये" ॥२४॥

"हुआ ओह ! फिर शंकाकुल मन,
व्याकुल मन हो जाये।
स्मरण जभी उन पीड़ादायक,
बुरे क्षणों का आये ॥
सो भी नाथ ! सामने सबके,
मुझ पर दोष लगाये !
'अग्नि - परीक्षा' - नंतर तो भी,
दासी को अपनाये" ! ! २५॥

"ऐसी बात न विश्वास अडिग,
हृदयेश्वरि ! नित तुम पर।
ज्ञात,—रही तुम जीवित, रटती,
मेरा नाम निरंतर ॥
अन्य पुरुष का तुम्हें स्मरण भी,
न छुआ तक जीवन भर।
गंगा - सम तुम पावन, मेरी,
मूर्ति बसी तव अन्तर ॥२६॥

"यह भी ज्ञात, आर्य - नारी - हित,
प्रिय सतीत्व जीवन से।
पातिव्रत ही व्रत उसका नित,
कर्म, वचन, शुचि मन से ॥
समय पड़े नित तेज सुरक्षित,
करती प्रेम मरण से।
कर सकते खिलवाड़ न उसके,
सतीत्व से, रावण - से ॥२७॥

"कई नारियाँ लाया जिसने,
हर कर व्याही, क्वाँरी।
दुष्ट, वली जग रावण ऐसा,
कुख्यात दुराचारी॥
रही मास दस लंका में तुम,
यद्यपि थी लाचारी।
तुम पर, मुझ पर, कुल पर विधि-वश,
दोप लगा वह भारी॥२८॥

"वंद न मुंह कर पाता जग का,
हो कर युद्ध - विजेता।
चुप न वैठते तथाकथित कुछ,
ये समाज के नेता॥
इस प्रकार तव पवित्रता की,
यदि न परीक्षा लेता।
तो सुलक्षणे! यह समाज तव,
सिर कलंक मढ़ देता॥२९॥

"नीचा ही कुछ रहता आया,
सदा समूह - धरातल।
खोज अनिष्ट इष्ट में लेता,
पर - छिद्रान्वेषी - दल॥
सोचा करते साधारण जन,
अपने स्तर से केवल।
कटा नाक निज औरों का कुछ,
असगुन करने वेकल॥३०॥

"नहीं सामने किन्तु पीठ पर,
जन कहते मन आया।
सह सकता मैं कैसे तव यों,
तुम पर दोष लगाया॥

सच तो यह ?- अपवाद - वाद से,
मैं ने तुम्हें बचाया।
झोंक परीक्षा की ज्वाला में,
सोने - सा दमकाया ॥३१॥

"नारी - गौरव का सर्वाधिक,
मैं सदैव अभिमानी।
मुक्ति नहीं बस शक्ति पुरुष की,
जग की वह कल्याणी॥
नहीं राम की फिर तुम केवल,
भार्या सीता मानी।
रवि - कुल की तुम होनेवाली,
एक राष्ट्र की रानी!! ३२॥

"उक्ति प्रसिद्ध—'प्रजा भी वैसी,
राजा जैसा होता'।
निज सुख से बढ़ सुयोग्य शासक,
जन - हित हृदय सँजोता॥
कर्तव्य - भावना का संगर—"
कहते मन युग धोता—
दोनों के नयनों से रोधित,
फूटा निर्मल सोता ॥३३॥

यों किष्किन्धा, ऋष्यमूक गिरि,
निर्झर, सरिता, कानन।
पुष्करिणी, पम्पा, पंचवटी,
फिर 'गोदा' सरि - मज्जन॥
मुनि अगस्त्य के, भरद्वाज के,
आश्रम के कर दर्शन।
प्रमुदित मन वे पहुँच गए फिर,
चित्रकूट के आँगन ॥३४॥

कहा पवन - सुत से रघुवर ने,
फिर गंभीर तनिक बन।
"प्रथम अवध तुम जाओ प्रियवर !
जाँच भरत का लो मन।।
अनायास ही विशाल पा कर,
निष्कण्टक सिंहासन।
भरत - विचारों में कितना क्या,
हो आया परिवर्तन ।।३५।।

"कठिन छूटना राज्य - लोभ, कर
वर्ष चतुर्दश शासन।
छोड़ा चाहे सहसा कोई,
अधिकार न राजा बन।।
वभव - शासन, - यश का लोलुप,
स्वाभाविक रहता मन।
राज्य करे वह ऐसा हो यदि,
मुझे रहे प्रिय कानन" ।।३६।।

पथिक मारुती ने बन, देखा,
छाया अवध - सुशासन।
किन्तु विराजित राम - पादुका,
शासक - सी सिंहासन !!
मंत्री बन कर, संन्यासी - से,
बैठे भरत कुशासन।
मुख गभीर, तन कृश, न राग मन,
राजसता - आभास न !! ३७।।

मातृ - मुखों पर आशा, चिंता,
उत्सुकता झलकाई।
श्रुतकीर्ति, माण्डवी, उर्मिल सब,
मिश्र - भाव भरमाई।।

'राम न आये यदि' जन-जन-मुख,
ध्वनि यह पड़ी सुनाई।
'भरत न तज दें प्राण कहीं कल,
अवधि बीतने आई'!! ३८॥

अकथनीय ककेयी की स्थिति,
उत्सुक भी, शंकित भी।
आशान्वित उर सनेह - सिंचित,
हुलसित भी, चिंतित भी॥
रह सके न चुप, अति आतुर मन,
कह न सके प्रकटित भी।
स्मरण पूर्व कृति कर विचलित भी,
वत्सलता - पूरित भी!! ३९॥

कहा प्रकट हो मारुति ने तब,
"मूर्तिमान हे त्यागी!
बने विभव तज विछोह में तुम,
जिसके सुभग! विरागी॥
विजय-सखी, यश - सौरभ, लक्ष्मण,
सीता सह अनुरागी।
चित्रकूट गिरि तक आ पहुँचे,
सकुशल वे बड़भागी" ॥४०॥

जीवन पाकर उन्हें हृदय से,
गद्गद भरत लगाये।
सुना हाल सब, दोनों ने फिर,
जी भर अश्रु बहाये॥
वृत्त तुरंत उड़ा यह घर-घर,
पंख असंख्य लगाये।
लौट पवनसुत रघुवर को सब,
शुभ वृत्तांत सुनाये ॥४१॥

अवधपुरी भी पल भर में ही,
बनी नवेली दुल्हन।
गली-गली मधु-चन्दन-चर्चित,
महका-महका कण-कण॥
चपल नारियाँ, पायल झनकीं,
घर-घर, आँगन-आँगन।
छल-छल छलका पड़ता आनँद,
जन-जन-धरा-गगन-मन॥४२॥

तब तक नन्दीग्राम अनुज सह,
गये भरत आनन्दित।
साथ-साथ स्वागत को उमड़ी,
जनता भी अति हर्षित॥
उतर पड़ी उस धरती पर ज्यों,
अमरावती सुसज्जित।
गगन लगी-सी ललचाईं सब,
अँखियाँ प्रभु-दर्शन-हित॥४३॥

'जय-जय' गूँजा नभ तक, उतरे,
'पुष्पक' से प्रभु जब तक।
बरसे प्रसून इतने कि वहाँ,
अम्बार लगा अब तक॥
भरत विसुध-से दौड़े, गद्गद,
गिरे चरण में जब तक।
साश्रु राम ने भुज भर उर में,
उन्हें समेटा तब तक॥४४॥

करती-सी अभिषिक्त परस्पर,
बही युगल-दृग-धारा।
गंगा-यमुना-संगम प्यारा,
मिलन जलद-घन न्यारा॥

"धर्म, त्याग, अनुराग, तपोव्रत,
विश्व अनूप तुम्हारा।
मात किया सबको तुमने, मैं
भाई ! तुमसे हारा" ! !४५।।

गिरा मूक, पर मन की मन पर,
अंकित - सी परछाईं।
मिले सिक्त मन - दृग से देवर-
भाभी, भाई - भाई ।।
मिले विभीषण से, सुकंठ से,
भरत हृदय - सुखदाई।
फिर चर, अनुचर, वानरगण से,
पुन: जयध्वनि छाई ।।४६।।

घिरे भीड़ से चले नगर में,
प्रभु पैदल हुलसाये।
बिछे प्रसून राज - पथ, झूलीं,
घर - घर पर मालायें ।।
पंक्ति - बद्ध पुरजन हर्षोन्मद,
जय - जय कार सुनाये।
गाये मंगल गीत नारियाँ,—
'राम हमारे आये' ।।४७।।

स्नेह - सनी माताएँ गद्‌गद,
फूली नहीं समातीं।
हर्षित, कम्पित, नमित सुतों को,
बार - बार उर लातीं ।।
कह भी न सकीं कुछ, बस अविरत,
आनन्दाश्रु बहातीं।
समुद आरती ही उतारतीं,
रत्न असंख्य लुटातीं ।।४८।।

सीता को तो भींचा उर से,
होश - हवास गँवातीं।
फिर तो मनों बाँध ही टूटा,
बस अँखियाँ उमड़ातीं॥
मातृ - अंक में वैदेही भी,
अकथ, अमित सुख पाती।
बहनों से फिर मिलकर दुगुनी,—
चौगुनी हुई जाती॥४९॥

मिश्रित भावोंयुत रघुवर ने,
कैकेयी को देखा।
हर्षित जो, पर मन पर उभरी,
स्पष्ट कसक की रेखा॥
"मूल शक्ति माँ ! सुख की तुम ही,
दुख तो विधि की लेखा।
स्वयम् अयश सिर लेकर, मेरे
शीश सुयश अवलेखा" ॥५०॥

"वत्स ! विशाल हृदय ही अपना,
तुमने यों दिखलाया।
अवगुण भी जो मेरे तुमने,
गुण करके अपनाया॥
मुझ अजान ने अपने होते,
तुम पर दुख ही ढाया।
तुम्हें, भरत को भी पर खो कर,
मैं ने पुनरपि पाया॥५१॥

"तनिक आज हलका तो होगा,
बोझ धरा जो मन पर।
इस दिन के हित काटे मैंने,
कितने दिन गिन - गिन कर॥

सफल मनोरथ ! मन आतुर, दूँ—
तुमको सौंप धरोहर।
राम ! सँभालो, लो, अब अपना,
राज्य, भरत यह अनुचर !! ५२॥

"देखेगा परिणाम प्रकट जग,
कब समझेगा अन्तर।
विधि - विधान जो लगा सदा को,
यह 'टीका' मस्तक पर !!
"अकपट तव शुचि मनोभावना,
भले न समझे जगभर।
मैं तो माँ ! प्रत्यक्ष देखता,
हृदय उमड़ता सागर" ॥५३॥

सब विभोर अभिषेकोत्सव में,
जन - जन - मन हुलसाया।
प्रथम वसिष्ट, अष्ट मंत्री ने,
फिर अभिषेक कराया॥
'चन्द्र' - कला - सा उज्ज्वल जग ने,
'राम राज्य' शुभ पाया।
धरती से अम्बर तक उन्मद,
रव 'जय - जय' का छाया ॥५४॥

(मंगल वृत्त)

सविता कीर्ति - विभा, राघव की छिटकाये।
बरसे पुष्प खिले, व्योम सुवर्ण लुटाये॥
कर से चौंर तभी 'चन्द्र' समीर डुलाये।
अलि नाचे, खगिनी मंगल गान सुनाये ॥५५॥१११॥